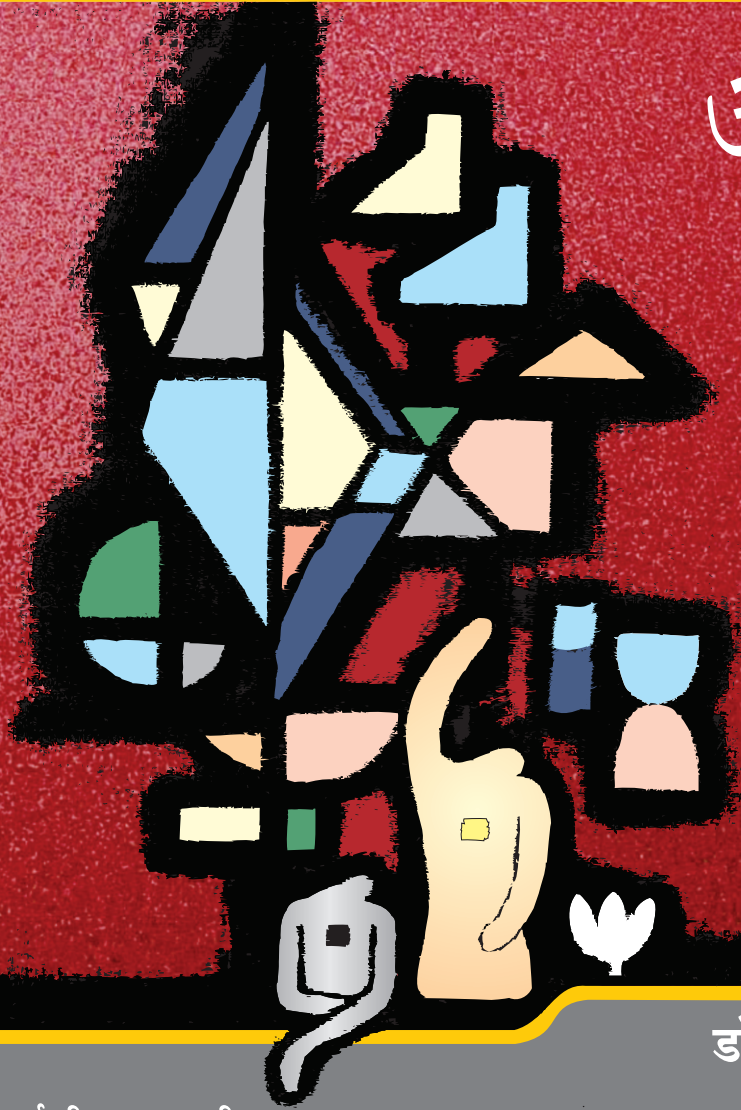




आगम पुरुष



डॉ. नेमीचन्द जैन

क्रान्ति-चेता आचार्य श्री नानालाल जी
के जीवन का तटस्थ विहंगावलोकन

जीवन परिचय

आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.

निवासी	:	दांता
पिता का नाम	:	श्री मोतीलाल जी
माता का नाम	:	श्रीमती सिणगार बाई
गौत्र	:	पोखरना
जन्मतिथि	:	ज्येष्ठ सुदी 2, वि. सं. 1977
विवाहित/अविवाहित	:	अविवाहित, बाल ब्रह्मचारी
दीक्षा तिथि	:	पौष शुक्ला 8, संवत् 1996
दीक्षा स्थल	:	कपासन
दीक्षा गुरु	:	युवाचार्य श्री गणेश
दीक्षा के समय उम्र	:	19 वर्ष 7 मास 6 दिन
युवाचार्य पद तिथि	:	आसोज सुदी 2 संवत् 2019
युवाचार्य पद प्रदान स्थल	:	उदयपुर
युवाचार्य पद के समय	:	
दीक्षा पर्याय	:	22 वर्ष 8 मास 24 दिन
युवाचार्य के पद के	:	
समय उम्र	:	42 वर्ष 4 दिन
युवाचार्य काल	:	3 माह 15 दिन
आचार्य पद तिथि	:	माघ बदी 2, वि. सं. 2019
आचार्य पद स्थल	:	उदयपुर
आचार्य पद के समय उम्र	:	42 वर्ष 3 माह 19 दिन
आचार्य पद के समय	:	
दीक्षा पर्याय	:	23 वर्ष 9 दिन
आचार्य शासन काल	:	36 वर्ष 9 माह 29 दिन
कुल आयु	:	79 वर्ष 5 माह 14 दिन
स्वर्गवास तिथि	:	कार्तिक बदी 3, वि. सं. 2056
स्वर्गवास स्थल	:	उदयपुर

आगम पुरुष

क्रान्ति-चेता आचार्य श्री नानालाल जी
के जीवन का तटस्थ विहंगावलोकन

डॉ. नेमीचन्द्र जैन

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

आगम पुरुष

डॉ. नेमीचन्द जैन

प्रथम आवृत्ति

2,200 प्रतियां, सितम्बर 1992

तृतीय आवृत्ति

5,100 प्रतियां, जनवरी 2018

मूल्य

50/- रुपए

प्रकाशक

साधुमार्गी पब्लिकेशन
अन्तर्गत - श्री अखिल
भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

मुद्रक

जयन्त प्रिन्टरी
एल. एल. पी., मुम्बई-400002
फोन नं. 022 4366 7171

प्रकाशकीय

मनुष्य को जब भी कोई प्रेरणा का स्रोत दिखाई देता है तो वह हमेशा उसमें डूब जाना चाहता है और जितना वह गहराई में उतरता जाता है, उसकी उत्कण्ठा और अधिक जानने को प्रेरित होती है। अपनी बढ़ती जिज्ञासा को शान्त करने के लिए उसे धर्म से संबंधित चारित्रिक आत्माओं का जीवन-चरित्र एक सुगम माध्यम दिखाई देता है। वहां उसे न केवल अपने प्रश्नों के समुचित उत्तर प्राप्त होते हैं, बल्कि वह अपने धर्म में मानसिक और शारीरिक रूप से संलग्न रहकर स्वयं के चरित्र का भी निर्माण कर पाता है। अपनी बढ़ती जिज्ञासाओं को शान्त करते-करते उसे अहसास ही नहीं होता कि वह कब अपनी चरित्र की दुर्बलताओं से मुक्त हो गया है। स्वाभाविक रूप से ऐसा होने पर वह निष्कलंक तो हो ही जाता है और इस प्रकार एक आम पाठक की आत्मा का उत्थान होना समाज और धर्म हितार्थ है। पाठक की सामाजिक दृष्टि पूरी तरह से बदल जाती है। उसके जीवन का उद्देश्य धर्म में विलीन होने से उसके लिए धर्म में ही जीवन सर्वोपरि हो जाता है। फिर वह वही सब करना चाहता है जो कि उसे धर्म सिखाता है। उसके जीवन के मूल्य बदल जाते हैं। उसकी सोच और ज्यादा परिपक्व और सकारात्मक हो जाती है। उसे लगता है जैसे वह अब तक भटक रहा था और अब उसे जीवन का उद्देश्य मिल गया है। यह सब होना ही किसी चरित्र-कथा की सार्थकता है। आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. के जीवन में यह सब बहुत सहज में प्राप्त है। आपके हाथों में जो आगम पुरुष है, उसका पहला प्रकाशन 1992 में हुआ। इसकी लोकप्रियता के कारण उसी साल इसकी दूसरी आवृत्ति को मुद्रित करना पड़ा। आपके हाथों में यह तीसरा संस्करण है। आचार्यश्री नानालाल जी महाराज साहब का जीवन चरित्र इतना जनप्रिय है कि लोग निरंतर आपके जीवन के बारे में जिज्ञासु बने रहते हैं। आचार्यश्री का जीवन-चरित्र बहुत ही सयंत और त्याग की अनुशंसा करता है। आपका मानना था कि जो जीवन में निष्कलंक है, उससे प्रेरणा ली जा सकती है फिर वह चाहे साधु हो या गृहस्थ। आपके इस प्रकार के विचारों ने एक साधारण व्यक्ति को भी अपनी आत्मा और चरित्र को शुद्ध और निष्कपट बनाने की प्रेरणा दी। इस तरह के उपदेशों से एक साधारण व्यक्ति भी गृहस्थ रहते हुए साधु सदृश्य सोच रखने में सफल हुआ। यह सब आचार्यश्री नानालाल जी महाराज साहब की प्रेरणा का ही एक रूप है।

आचार्य श्री नानालाल जी म. सा. के समकालीन डॉ. नेमीचन्द्र जी जैन ने इस आगम पुरुष को लिखने के दौरान आचार्यश्री को बहुत नजदीक से अनुभव किया। तथापि आचार्य श्री नानालाल जी के विराट रूप को वे इस छोटी-सी पुस्तिका में जितना कुछ समाहित कर सकते थे, उन्होंने किया। हालांकि अपने लेखकीय में जैन साहब ने स्वयं इस सत्य को आत्मसात् किया है कि नानालाल जी म. सा. के जीवन को सीमित शब्दों में वर्णित करना किसी चुनौती से कम नहीं है। फिर भी डॉ. जैन ने इस पुस्तिका में आचार्यश्री के विराट जीवन-चरित्र को गागर में सागर भरने जैसा कार्य सम्पन्न कर दिखाया। पुस्तक की भाषा ऐसी है जैसे किसी ने समुन्द्र से मोती रुपी शब्द चुन-चुन माला बनाई हो। इस प्रकार से इसकी भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध और प्रेरक बन गई है।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ की ही इकाई साधुमार्गी पब्लिकेशन ने हमेशा यह प्रयास किया है कि आमजन की धर्म जिज्ञासा को शान्त करने के लिए हमेशा कुछ न कुछ नवीन प्राप्त होता रहे। इस पुस्तक का पुनः मुद्रण इसी परम्परा की एक कड़ी है।

इस पुस्तक के प्रकाशन का संबंध 'अनन्य महोत्सव' से है। यद्यपि पुस्तक में किसी प्रकार का आमूलचूल परिवर्तन नहीं किया गया है। प्रसंगानुसार कुछ संशोधन किए गए हैं तथा इसे ज्यादा आकर्षक बनाने के लिए मुद्रण संबंधी कुछ बदलाव किए गए हैं। आशा है इससे पुराने पाठकों को नवीनता का बोध होगा। साधुमार्गी पब्लिकेशन सन्मार्ग की प्रेरणा के साथ पुस्तक के नवीन संस्करण में संलग्न रहे सभी महानुभावों को साधुवाद देता है।

संघ के प्रति अहोभाव

हे पितृ तुल्य संघ! आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा हेतु सतत् प्रयत्नरत संघ ! तुम्हारी शीतल छांव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं । तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है । तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया है । तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है । इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं ।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक 'आगम पुरुष' के माध्यम से संघ सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया । इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं । अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा ।

अर्थ सहयोगी

अशोक कुमार, विजय कुमार, आदेश कुमार लोढ़ा
मदुरान्तकम

॥ सेवा है यज्ञकुण्ड, समिधा सम हम जलें ॥

अंतरंग

■ पूर्वकथन	i - v
■ जीवन	15 - 24
■ शोधन	25 - 28
■ प्रसंग	29 - 38
1. क्रोध ओले की तरह गल गया	30 - 31
2. कान बना मकान	31 - 32
3. धोरा दूध री चादर	33 - 34
4. हम स्वयं बनें अन्नदाता	34 - 35
5. सुई की आंख में से निकल सकता है ऊँट	35 - 36
6. मेमने को मिला अभय	36 - 37
7. लोहे की लकीर	37 - 38
■ चातुर्मास	39 - 48
1. साधुपद (1940-1962)	40
2. आचार्य पद (1963-1992)	41
3. चातुर्मासिक उपलब्धियां (1940-1992)	42 - 48
■ बातचीत	49 - 52
■ प्रवचन	53 - 67
1. समता दर्शन	54 - 60
2. अमरता की खोज में	61 - 62
3. निष्प्राण रूढ़ियों की लाश ढोते हम	63 - 67
■ मनन	69 - 76
■ सुक्ति-गंगा	77 - 88
■ अवदान	89 - 95
■ सातत्य	97 - 99
■ परिशिष्ट	101 - 105

प्रत्येक इन्सान को नियमित रूप से एवं व्यवस्थित रूप में विश्वहितकारी कुछ-न-कुछ कार्य करने चाहिए। बिना कुछ किए विश्व से सहायता लेना उचित नहीं कहा जा सकता। इन्सान को विश्व के पदार्थों से जो भी शारीरिक, मानसिक एवं वाचित शक्ति प्राप्त हुई है, उसका सदुपयोग तभी समझा जा सकता है, जब इन्सान उक्त (विश्व) के लिए कुछ करता हो। अगर वह ऐसा कुछ भी नहीं करता है और व्यर्थ ही व्यक्तिगत स्वार्थ में इस शक्ति का व्यय करता है, तब वह विश्व में दूसरों को कष्ट देने वाला एवं कृतघ्न की श्रेणी में आ जाता है।

नानेश वाणी (दि. 11.09.51)

आवरण चित्र का प्रेरणात्मक परिचय

क्षणभंगुर शरीर को गौर करें। शरीर पोशाक है,
जिसके फटने या जीर्ण होने पर संताप कैसा?
पोशाक पर क्यों रोयें? रूढ़ियों से हटें।
आत्मोन्मुख बनें। परिवर्तन का
स्वागत करें।

पूर्वकथन

आगम पुरुष की परिकल्पना कानोड़ राजस्थान में हुई। 16 सितम्बर, 1989, शनिवार (आश्विन कृष्णा प्रतिपदा/वि. सं. 2046) को श्री सरदारमल जी कांकरिया (कलकत्ता) ने आग्रह किया कि मैं श्री आचार्य श्री नानालाल जी के जीवन पर कोई अनासक्त पुस्तक लिखूँ। सुझाव मुझे सुखद लगा। अनासक्त लिखना कठिन होता है; किन्तु, कैसे भी, मुझे इसका अभ्यास है। किसी व्यक्ति या प्रकृति के तट पर बैठ उसके मझधार में होने को देखने में मेरी सदैव से दिलचस्पी रही है। आचार्य श्री का जीवन मेरे लिए एक आईना बना। आईने को तो मैंने देखा ही, इसमें खुद को भी पाने की भरपूर कोशिश की।

आईनों के बारे में कहा जाता है कि पूरा सच बोलते हैं; किन्तु अब ऐसे आईने भी बाजार में हैं, जिनमें आप जो नहीं हैं, किन्तु जो दिख पड़ना चाहते हैं सुभीते से, वैसे दिख पड़ सकते हैं।

नानालाल जी महाराज का जीवन कंचन-नीर है। न कहीं कोई दुराव और न कोई मालिन्य। साफ-सुथरी, संयत जीवन-शैली के प्रवर्तक के रूप में मैंने उन्हें बेहद नजदीक से देखा है। इन्दौर में तो मैं उनके साथ लगभग चौबीस घंटे रहा हूँ और उनसे नाना विषयों पर एक बहुआयामी विचार-विमर्श किया है।

कहने को श्री कांकरियाजी ने कह दिया और मैंने सुन लिया; किन्तु उसी दिन अर्थात् 16 सितम्बर को मेरे मन-मस्तिष्क में काफी चहल-पहल रही। अकेला मैं एक नजर चुप-चुप आचार्य श्री को उनके पड़ाव पर देखने गया। सोचता रहा कि क्या इस महापुरुष को किसी खास कोण से देखा जा सकता है? मुझे लगा यह अपनी तरह का निराला है – सुलझा हुआ है, निष्काम है, समतावान् है; इसके लिए न कोई छोटा है, न कोई बड़ा; न कोई अमीर, न कोई गरीब। जो भी इसके जीवन में है, वह सब इसने गहरी खोज-परख के बाद स्वीकार किया है। हर स्वीकृति के लिए इसके पास कोई मजबूत/प्रशक्त तर्क है। धीमे, सुदृढ़, धीरज-में-डूबे सुर में बात करने का इसका स्वभाव है। जोर से यह बोलता नहीं है, क्रोध इसे कभी आता नहीं है। इसके रोम-रोम में आतमराम है। यह आठों याम आत्मसंलीन बना रहता है। खादी ओढ़ता है। जात-पात मानता नहीं है। जहां कोई प्राण या धड़कन है, वहां इसकी सलाम और सलामती पहुंचती है। इसके द्वारा किसी को किसी भी तरह की चोट पहुंचे, यह संभव ही नहीं है। ऐसे विराट मानव से मिलने के नाना अवसर आए और हर अवसर पर मैं कुछ-न-कुछ नया पाकर ही लौटा।

17 नवम्बर की सुबह तक मैंने यह तय कर लिया कि आचार्य श्री का एक बहुआयामी अनासक्त जीवनवृत्त लिखा जाएगा, फिर चाहे कोई जो सोचे, जो कहे। श्रद्धा श्रद्धा होती है – वह इंतजार नहीं करती। जब तक वह अपनी आंख से सीधे किसी व्यक्तित्व का पारदर्शन नहीं कर लेती, समर्पित नहीं होती। मैंने उन्हें अपना श्रद्धा-केन्द्र माना। कुछ ही ऐसे हैं, जिन्हें मैं अपने श्रद्धापुष्प अर्पित कर पाया हूँ। इनमें नर-नारी दोनों हैं। साधु या गृहस्थ कोई हो, यदि वह साफ-सुथरा/निष्कलंक है तो वह मेरे लिए सर्वथा पूज्य है। आचार्य श्री में वह सब है जो श्रद्धा को आकर्षित करता है। उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व ने 16 सितम्बर की रात कान में साफ कह दिया कि मुझे वह दस्तावेजी काम करना ही है। मैंने उन्हें इस दृष्टि में देखना शुरू किया।

1989 ई. से पूर्व अजमेर (1979), बम्बई-बोरीवली (1984) और इन्दौर (1987) में मैं उनके दर्शन कर चुका था। जब

भी मैं उनसे मिला हूँ, उन्होंने मुझे अपनी अपरम्पार वत्सलता से नखशिख अभिषिक्त किया है। धीमे, कम, सारभूत बोलने/कहने की उनकी प्रकृति है। 1987 के बाद कानोड़ (1989) में, इससे पूर्व रतलाम में (1988), फिर पिपलिया कला (1991) में तथा उदयरामसर (1992) में उनके पुनीत दर्शन हुए। सात बार के दर्शन में मैंने उन्हें सप्तजिह्व (अग्नि) की हर कसौटी पर कसा और पाया शत-प्रतिशत कि वे 'आगम पुरुष' हैं।

आगम पुरुष का बीजांकुरण कानोड़ में हुआ। मैं सोचता रहा बारम्बार कि इस इंसों के जीवनवृत्त का शीर्षक क्या हो - अन्ततः चेतना पर 'आगम पुरुष' शीर्षक अलथी-पलथी मार कर बैठ गया, इस तरह कुछ कि कोई अन्य शीर्षक इसे अपदस्थ नहीं कर सका। इसे खो देने कई आये, पर यह उठा नहीं - चेतना पर अविरल बना रहा। आगम, पुरुष, दांता, कपासन और उदयपुर शब्द मुझसे समीक्षा की मांग करने लगे। 'आगम' ज्ञान को तो कहते ही हैं, विज्ञान के अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त है। विज्ञान जैनधर्म का एक विशिष्ट शब्द है, जिसका अर्थ चारित्र भी है। मैं मुग्ध हुआ इस अर्थ पर। 'विज्ञान' का अर्थ 'विशिष्ट ज्ञान' तो है ही, 'चारित्र' भी है - यह मेरे लिए सुखद था। फिर 'पुरुष' शब्द जेहन में आया। पुरुष का व्युत्पत्तिक अर्थ देखा तो आनन्द में झूम उठा तन-मन। जो लगातार आगे चलता है, चलने में जिसका पांव कभी/कहीं रुकता नहीं है, वह है पुरुष। इस तरह मैंने अपने भीतर सुनिश्चित किया कि 'आगम पुरुष' अर्थात् वह आदमी जो विज्ञानी है; जो जैसा सोचता है, वैसा जी कर देखता है और जो गतिमान (डायनेमिक) है; जो मौलिकताओं पर सुस्थित है, जम कर बैठा है; किन्तु नये संदर्भों में बदलने से इंकार नहीं कर रहा है, वह आगम पुरुष है।

मैं मन ही मन मुस्कराया और मैंने शीर्षक को अपनी चेतना में जज्ब कर लिया। तीन साल से मेहमान यह शब्द अब जाकर कोई आकृति ढूँढ पाया है। एक लघुग्रन्थ के रूप में ही सही, मैंने कोशिश की है कि एक साधु के जीवन-विवरण को कुछ इस तरह संयोजित किया जाए कि वह पूरी दुनिया के लिए एक जीती-जागती मिसाल ही न बने, वरन् मशाल भी बने।

फिर 'दांता' शब्द ने दरवाजा खटखटाया। दांता राजस्थान का एक गांव है। वह गांव जहां इस आगम पुरुष ने जन्म लिया है। दांता मैं दो बार गया - 17 सितम्बर 1989, 28 मार्च 1992। दोनों बार मैंने दांता के रग-रेशे का रोमन्थन किया। वहां के लोगों से मिला। वहां की धरा के चरण छुए। उस कक्ष की पुनीत माटी को मस्तक पर रखा, जहां इस महामनीषी ने सूरज की पहली किरण देखी थी। 'दांता', लगता है, मूल में 'दाता' है। जैसे 'दुनिया' लिखते हैं और 'दुनिया' बोलते हैं - ठीक वैसे ही 'दांता' के साथ है। यदि यह सच है तो दांता दुनिया का ऐसा दाता है, जिसने ऐसा दिव्य कुछ दिया है, जिसे यावच्चन्द्रदिवाकरी कोई मिटा नहीं सकेगा। लगता है 'दांता' शब्द का 'दान्त' और 'दान्ति' शब्दों से भी कोई सरोकार है। दोनों शब्दों का संबंध संयम से है। जिस गांव ने विश्व को संयम का दान दिया है, वह दांता है।

कपासन को जब खोजने लगा तब मुझे सबकुछ मिल गया। कः (क्या), पार्श्व (पास), न (नहीं) - वह कस्बा 'जिसके पास क्या नहीं है', अर्थात् 'जिसके पास सबकुछ है', वह कपासन है। अथवा 'मेरे पास क्या है-कुछ भी नहीं है', जहां इस तरह का आकिंचन्य-बोध है, उस कस्बे का नाम कपासन है। कपासन 'आगम पुरुष' की दीक्षा-भूमि है। इसे देखा। यहां उस वृक्ष को भी देखा, जहां आचार्यश्री की दीक्षा सम्पन्न हुई थी। यह वृक्ष 1989 में तो मिला; 1992 में नहीं मिला। उसकी जगह मैदान मिला।

दोनों के फोटोग्राफ्स लिये। 1989 में वृक्ष के तले खड़े रह कर मैंने उसके हर पत्ते में 'नाना' का 'ना-ना' सुना - लगा जैसे वृक्ष ने कभी पूछा हो कि 'नाना तुझे क्या चाहिये?' और नाना ने कहा हो - 'मैं जानता हूँ दुनिया में नाना पदार्थ हैं; किन्तु इन सबके लिए मेरे भीतर 'ना-ना' के अलावा कुछ नहीं है। मुझे लौकिक कुछ नहीं चाहिए, जो हो अलौकिक ही हो, यह मेरी कोशिश है।' यह इंसों, जो आगे चलकर सिर्फ पोखरना-कुली नहीं रहा, पूरे देश का हुआ, अखिल मनुजता का हुआ - इसी कपासन से दीक्षा लेकर आगे बढ़ा। कपासन प्राची है, जिसने नाना के नानाआयामी जीवन का एक ऐसा पृष्ठ विवृत्त किया, जो निरन्तर खुला रहा और जो एक पृष्ठ होकर भी एक पूरी और सार्थक किताब कहलाया।

जब उदयपुर के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि उदयपुर में ही 'उदय-पुरुष' क्षितिज पर आया है। पूर्ण सूर्योदय उदयपुर में हुआ। यहीं जगदम्बा शृंगारबाई ने कहा - 'बेटे, दूध की धोली चादर पर कोई दाग मत आने देना।' शृंगार ने जिस अंगार को जन्म दिया, उसने रूढ़ियों को भस्म किया, विषमताओं को जलाया, चंचलताओं के अस्तित्व को शेष किया और औपचारिकताओं से ऊपर उठकर वह निखिल मानवता का शृंगार बना। प्रणाम उस जननी को, प्रणाम उस पुत्र को।

तो इस तरह 'आगम पुरुष' की कल्पना साकार हुई। दांता की पहली यात्रा में सरदारमल जी कांकरिया ने कानोड़ से भूपराज जी, गजेन्द्र सूर्या, विपिन जारोली और भरत जारोली के साथ मुझे विदा किया, यह सोचकर कि मैं 'आगम पुरुष' लिखकर अपनी लेखनी को अवश्य धन्य करूँगा। दूसरी बार मेरे साथ गजेन्द्र सूर्या के अलावा बंशीलाल जी पोखरना भी रहे। दांता में आचार्य श्री के चचेरे भाई श्री कन्हैयालाल जी पोखरना से मेरी जो बातचीत हुई, वह इतनी अद्भुत-अपूर्व है कि मैं स्वयं उसे दुबारा सुनकर (रिकॉर्डर से) चकित हूँ; किन्तु उसे यहां न देकर भविष्य की किसी किताब के लिए सुरक्षित कर रहा हूँ। यह संक्षिप्त बातचीत नानालाल जी महाराज के व्यक्तित्व पर एक अलग ही तरह का प्रकाश डालती है।

दांता-1989 और दांता-1992 दोनों ही मेरे जेहन पर जीवन्त है। मैं दांता को रेशे-रेशे देख रहा हूँ। इस समय वह मेरी आंखों के सामने खड़ा है। मैं आंखें मूंदकर उस कक्ष में उपस्थित हूँ, जहां नाना ने किलकारियां भरी होंगी और अपनी मां के सामने अनगिनत बाल-लीलाएं की होंगी। मैं सहज ही वे सारे दृश्य देख रहा हूँ। आप भी देखें।

दोपहर है। अभी-अभी दाल-बाफलों का आनन्द लेकर जन्म-कक्ष की दालान में आया हूँ। कन्हैयालाल जी पोखरना सामने हैं। कई बातों के बीच बोले - 'डॉक्टर साहब, यहां पास ही एक तलाई है जो अब छितरायी हुई नाली मात्र रह गई है। अब उसमें पानी नहीं है। पहले उसमें मगरियों का पानी एकत्रित होता था। अब वह निपट निर्जल है। नानालाल जी उसमें तैरा करते थे।'।

मैं सोचने लगा - 'ऐसा क्यों है कि मैं जिन विशिष्ट मुनियों से अब तक मिला हूँ, वे सब तैराकी में दक्ष थे? क्या तैराक होना साधु के लिए कोई अदृश्य शर्त है?' मैंने कहा - 'आज भी वे एक कुशल तैराक ही हैं। पहले वे इस तलाई में तैरा करते थे, अब अपनी ज्ञान-विज्ञान की भुजाओं से भव-सागर तिर रहे हैं।' सुनिए, एक सिद्धहस्त तैराक कभी अपनी तैराकी के गुर अपने तक सीमित नहीं रखता। नानालाल जी ने तैराकी के तीन गुर साधकों को दिए हैं - समता, समीक्षण, समवसरण। विषमताएं शान्त करो, अपने अस्मित्व की रक्षा करो, अपने भीतर गहरे पैठो, कषाय को हटाओ, सबको अवसर दो, स्वयं आत्मोन्नति का कोई

अवसर हाथ से न जाने दो। यदि इतना करोगे तो खुद तो तिरोगे ही, दूसरे भी तिरेंगे।

जब आगम पुरुष लिखने बैठा, तब इसकी रूपरेखा बनाने लगा। मुझे भीतर-भीतर एहसास हुआ कि जिस महामानव का जीवनवृत्त मुझे लिखता है, उसके जीवन के आसपास तो कोई वृत्त या घेरा ही नहीं है - फिर एक अन्तहीन को सान्त भाषा में कैसे कैद करूं? मुझे अजीब लगा; किन्तु कोई विकल्प नहीं था, अतः 'प्लान' करने बैठ गया। पूरी किताब को दस हिस्सों में विभाजित किया अर्थात् इस मनीषी को दसों दिशाओं से देखने-जानने का संकल्प लिया। शुरू में बीस वर्षों का 'जीवन' फिर 'शोधन' (अंतरंग में उतर कर जानने-खोजने की प्रक्रिया का समीक्षण), 'प्रसंग' (चुनी हुई सात घटनाएं, जो जीवन की बहुमुखीनता की दर्पण बन सकें), 'चातुर्मास' के अंतर्गत वर्षशः घटनापरक विवरण, 'बातचीत' के अन्तर्गत पिपलिया कला (1991) में आचार्य श्री से हुई चर्चा का सार (यह याददाश्त और टिप्पणियों के आधार पर तैयार की गयी है; इसे तैयार करने में रिकॉर्डिंग का तो कोई प्रश्न ही नहीं था, अतः यह जैसी है अपनी तरह का रसास्वादन लिए हुए है); 'प्रवचन' के अन्तर्गत तीन चुने हुए प्रवचन जो आचार्य श्री के चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'मनन' के अन्तर्गत आचार्य श्री से मेरी इन्दौर में हुई चौबीस घंटों की बातचीत है, जिसे 'तीर्थकर' के 'साधुमार्ग विशेषांक' से किंचित् परिवर्तनों के साथ अविकल दे दिया गया है; 'अवदान' एक तरह का मूल्यांकन है जो वस्तुनिष्ठ होने के साथ व्यक्तिनिष्ठ भी है; 'सूक्ति-गंगा' में 72 चुनी हुई सूक्तियां हैं, जो उनके बहत्तर वर्षों की नुमाइंदगी करती हैं; और 'सातव्य' में उनके जीवन से निःसृत कुछ वे सूत्र हैं, जिन्हें निरन्तर रखकर समाज का कायकल्प संभव है।

आवरण की कल्पना पिपलिया कला का यह प्रवचनांश है - 'शरीर पोशाक है, जिसके फटने या जीर्ण होने पर संताप कैसा? पोशाक पर क्यों रोयें?' (1991)। इसके अतिरिक्त आवरण के रंगों में वैविध्य है, पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक नयों की एक चाक्षुष बहस है। भेद-विज्ञान को इसमें से निचोड़ा जा सकता है। प्रसंगों के रेखाचित्र अपूर्व हैं-जल्दबाजी में मैं जो नहीं कह पाया हूं, संतोष जड़िया ने उसे रेखाओं के माध्यम से कह दिया है। 'धोरा दूध री चादर', 'भेड़ को मिला अभय' और 'सुई की आंख में से निकल सकता है ऊँट' के रेखांकन अद्भुत हैं। साधुमार्गी सीमाओं का ध्यान रखते हुए जो भी सार्थक प्राणवत्ता संभव थी, उसका ध्यान लेखक और कलाकार दोनों ने रखा है। जड़िया के हम कृतज्ञ हैं कि उसने चौबीस घंटे जैसी स्वल्पावधि में इन प्रसंग-चित्रों की रचना की।

आगम पुरुष के परिकल्पन में श्री सरदारमल कांकरिया तथा इसके लेखन और इसकी तैयारी में श्री भंवरलाल जी बैद, अध्यक्ष, श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने जो सहयोग दिया है, उसे विस्मृत करना संभव नहीं है। यदि श्री बैद सतत् मुझे प्रेरित-स्फूर्त नहीं रखते, तो इस महत्कार्य का होना लगभग असंभव था। मद्रास के श्री केसरीचंद जी सेठिया का योगदान भी कम नहीं है। वे भी अपने पत्रों में आगम पुरुष की प्रगति की पूछताछ निरन्तर करते रहे हैं। श्री भूपराज जैन, श्री गजेन्द्र सूर्या और श्री चम्पालाल डागा, मंत्री, अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ का भी लेखक उनके बहुमूल्य सहयोग के लिए कृतज्ञ है।

'आगम पुरुष' किस तरह तैयार हुआ, इसकी व्यथा-कथा बिल्कुल अलग है। यहां वह सब देना प्रासंगिक नहीं है, अतः रुक रहा हूं; इतना ही कि 4 सितम्बर से 26 सितम्बर 1992 तक मैंने जिस तरह काम किया है, उस तरह कर पाना मेरी

दैहिक/मानसिक सीमाओं में नहीं था; फिर भी किया है - संभव है आचार्य श्री के शुभाशीष का ही शुभ फल यह हो। यह जैसा है, आपके सम्मुख है। तय है जब इसका दूसरा संस्करण सामने आयेगा, तब यह काफी भिन्न और अधिक समृद्ध होगा।

अन्त में हम नई दुनिया प्रिन्टरी के सर्वश्री हीरालाल जी झांझरी, श्री श्यामकांत झा तथा श्री प्रफुल्ल शर्मा के कृतज्ञ है कि उन्होंने बावजूद तमाम व्यवस्थाओं के इसे युद्धस्तर छापकर यथातिथि उपलब्ध कराया। आशा है यह जीवन-वृत्त व्यापक रूप से पढ़ा जाएगा। मैं मानकर चल रहा हूँ कि यह पाठकों के पास एक दरिया की तरह पहुंचेगा - उस समन्दर की तरह जिससे उठने-उमड़ने वाले मेघ उनके जीवन के खेतों को सींचेंगे और उन्हें सहज ही साधना की एक सफल फसल उपलब्ध करायेंगे।

सितम्बर, 1992

नेमीचन्द्र जैन

संपादक 'तीर्थकर' 'शाकाहार क्रान्ति', इन्दौर

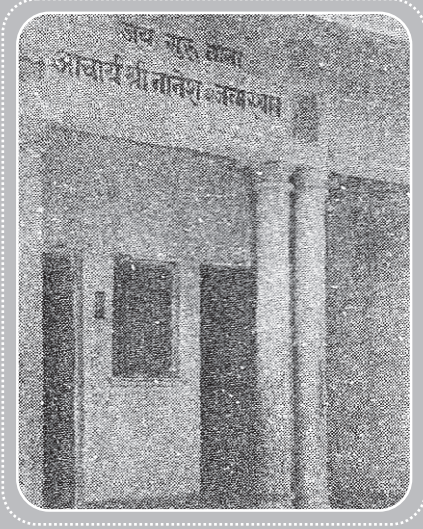


जिसमें संस्कार ग्रहण करने की योग्यता है,
उसी में सभी तरह के संस्कार पड़ सकते हैं। आन्तरिक नित्य
प्रकाशस्वरूपा शक्ति के सामने जिन-जिन संस्कारों के दृश्य आते
रहते हैं, उन-उन संस्कारों को वह स्वयं के समझकर चलती है तथा
उन्हीं के साथ अपना घनिष्ट संबंध स्थापित कर लेती है,
अतः उन संस्कारों के अनुरूप ही उस शक्ति का संकोच-विकास प्रायः बनता
रहता है। नाशवान वस्तु के संस्कार रूप में सिकुड़ जाने से नाश समान
समझी जाती है। फिर अन्य किसी उत्पन्न पदार्थ के साथ उस शक्ति के
तादात्म्यसम्बन्ध स्थापन के जरिये विकास प्राप्त होते रहने की प्रक्रिया अनादि
से चली आ रही है, इससे वास्तविक दशा की ओर नहीं पहुँचा जा रहा है।
अतः अविनाशी सदा सत्य समग्र विषयों के तथा स्वयं के
ज्ञान-विज्ञान की अवस्था में अवलोकन करने वाले तत्त्व के
संस्कार डालने की नितान्त आवश्यकता है।

नानेश वाणी (दि. 19.06.65)



जीवन



जन्म : दांता (राजस्थान), ज्येष्ठ शुक्ला 2,
वि. सं. 1977, 1920 ई.।



जन्म-कक्ष में लेखक : आप भी इस पवित्र माटी को
मस्तक पर लेकर धन्य हो सकते हैं

कहानी सुनने की प्रवृत्ति उसमें है। कहानी से जो मिलता है, वह बड़े-बड़े पौथों से नहीं मिलता, प्रवचन आया-गया हो गया; किन्तु जब मुनिश्री चौथमल जी ने कहा कि कल वे एक अद्भुत कहानी सुनायेंगे, तब नाना का जाना रुक गया। उसने सोचा कि अब कहानी तो सुनकर ही चलेंगे।

- बादल तो अपने हिसाब से बरसता है। नीम में नीम, ईख में ईख, बबूल में कांटा, आम में रस। चौथमल जी के शब्द अमृत बनते गये। नींद खुलने लगी। पलकों के नीचे बैठा जिद्दी अंधियारा टूटने लगा। भीतर-भीतर एक सुबह अंगड़ाई भरने लगी।

जीवन

उदयपुर रियासत की एक जागीरदारी का छोटा-सा गांव। आबादी कम। हरा-भरापन खूब। सुसंस्कृत/व्यसन-मुक्त परिवारों की एक साफ-सुथरी बस्ती। खेत-खलिहान। गौ-गौसाल। ताल-तलाई। कुआं-बावड़ी। चतुर्दिक एक सांस्कृतिक वातावरण। परस्पर सौजन्य। एक-दूसरे की हीर-पीर में अवाही-जवाही। सरल हृदय ग्रामवासी। अपनी आत्मीयता और सौजन्य के लिए विख्यात पोखरना-परिवार, जिसकी प्रामाणिकता धूप की तरह उजली और कमल-दल की तरह निर्लित्त।

मोड़ीलाल जी का अपना नाम है। वे सद्गृहस्थ हैं। खेत-खलिहान के धनी हैं। घरेलू काम-काज में काम आने वाली चीज-बसत का व्यापार है। यही - अनाज, कपड़ा, किराना। काम छोटा, किन्तु खरा। पत्नी शृंगार बाई की ग्रामांचल में अपनी जगह है। वे कम बोलती हैं; किन्तु सबकी मदद पर आठों याम बनी रहती हैं। छोटा-सा मकान है। दो बेटे, पांच बेटियां। भरापूरा, हराभरा, धर्मनिष्ठ कुटुम्ब है। कोई कमी नहीं है।

उषा काल है। भोर का तारा दिख पड़ रहा है। सूरज की किरणें ताल-तलाई के जल से अठखेलियां कर रही हैं। कमल खिलने को है। सूरज की किरणों ने उनकी पंखुड़ियों को प्रभाती सुना दी है। पक्षी चहक रहे हैं। चारों ओर मंद-सुगंध बयार है। सूरज ने घर-घर में रोशनी बिखेर दी है। लग रहा है हर घर रोशनी का खेत बन गया है। रोशनी के खेतों में कर्तव्य के हल चल रहे हैं। रात-दिन रूपी बैल हल खींच रहे हैं। धरती धन्य है। जगत् जगमगा उठा है।

एक सुबह इधर है; दूसरी पोखरना-परिवार में हुई है। जेठ सुदी दूज (वि. सं. 1977)। पुष्कर में एक कमल खिलने को है। एक नन्हें अतिथि की प्रतीक्षा है। सब अपलक खड़े हैं। मेहमान तक सूरज की किरणों का संगीत पहुंच गया है। एक नन्हा सा रूपस् शिशु परिवार में आया है। शृंगारबाई की गोद माँ त्रिशला की गोद बनी है। शिशु छोटा है। सबमें छोटा। किसी ने कहा इसका नाम यह रखो, किसी ने कहा यह - पर 'नाना' नाम चल पड़ा है। 'नाना' कहने से ऐश्वर्य-बोध तो होता ही है, विविधता का संकेत भी मिलता है। वह शिशु जो वैविध्य का विभु है, इस घर कुटुम्ब में आया है। आंगन का कण-कण हर्ष-विभोर है। अणु-अणु नृत्य मुग्ध है। शिशु कभी रोता है, कभी कोई स्वप्न उसके सुकुमार ओठों पर मृदु कम्पन उत्पन्न कर जाता है। चौड़ा ललाट। सुगठित देह। गेहुँआ रंग।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' - उज्ज्वल भविष्य की अपनी स्निग्धता है, अपना वैभव और अपने संकल्प हैं। प्रज्ञ शिशु के मुख मण्डल पर विलक्षण आभा है। वह रोता कम है, सोता-सोचता अधिक है। पता नहीं उसके भीतर ऐसा क्या है जो बाहर आने को मचल रहा है। छोटा-सा पालना है। ग्राम्यभाषा में हम जिसे 'गोझी' कहते हैं, उसमें 'नाना' है। कभी कोई झुला जाता है, कभी कोई। वह टुकुर-पुकुर देखता है और चारों ओर अपनी निर्ग्रन्थ मुस्कराहट बिखेर देता है। उसे कुछ नहीं चाहिए, पर जो मिल जाता है, उससे सब्र-सुकून की आदत उसे है। अपनी माँ को उसने कभी तंग किया हो, ऐसा लग नहीं रहा है - 'लाड़' बात अलग है - वह न करे तो शिशु कैसा, शैशव कैसा?

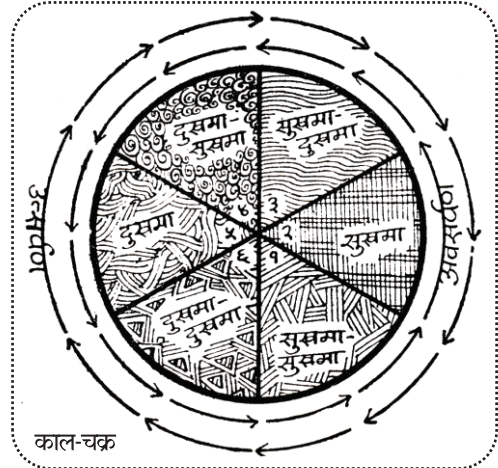
शिशु अब बालक हुआ है। घर से जब-तब निकल भागना और मित्रों में खेलना अब उसे अच्छा लगता है। अब उसकी

जिन्दगी का महल सात मंजला हो गया है। आठवी मंजिल बनने को है। किन्तु यह क्या? बसन्त आने से पहले पतझड़ कैसा? अनभ्र आकाश से वज्रपात क्यों? आठ वर्ष की सुकुमार वय-दुस्सह पितृवियोग। पतझड़ में से वीतरागता का बसन्त करवटें लेने लगा। कहने को चचेरे भाई कन्हैयालाल के साथ एक फर्म बन गयी है - 'कन्हैयालाल नानालाल', किन्तु चित्त उसमें रमा नहीं है। वे उन्मन हैं। जिन्दगी में एक नया मोड़ धड़कने लगा है। पिता की दिवंगति में-से उन्हें जीवन-मरण की परिभाषाएं मिल गई हैं। नाना को लगा संसार असार है। इसमें सारभूत क्या है? सब क्षणभंगुर है। स्थायी यहां क्या है? पिताजी चले गए। सब कुछ यहीं रह गया। मैं चला जाऊँगा - सब कुछ यहीं रह जाएगा। सूरज ऊगेगा, भोर होगी। सूरज डूबेगा, सांझ होगी। चिराग जलेंगे, चिराग बुझेंगे; किन्तु हम शायद नहीं होंगे। नदी की धार होगी, हम नहीं होंगे। तो क्या ऐसा कोई उपाय है कि जन्म ही न हो?

यदि हम जन्म देना बंद कर दें तो शायद हमारा जन्म लेना भी बंद हो सकता है। ब्रह्मचर्य की यह मृत्युंजयी परिभाषा उनकी चेतना पर आ बैठी। उन्हें लगा अपने अवचेतन में कि आदमी को ऐसा कुछ अवश्य खोजना चाहिए जो अमर हो, जो अमरणशील हो। यह अंकुर था, जिसकी झंकार तो भीतर हुई; किन्तु तुरन्त सम्बल जिसे नहीं मिला। वह भीतर-भीतर रोमन्थन करती रही। वैराग्य की जुगाली अनजाने में बनी रही। काम चलता रहा, पांव उठते गए; मन दुनिया से रूठा रहा।

बहन मोतीबाई ने पचोला (पाँच उपवास) किया। करारा तप था। बहिनोई मीठालाल जी भादसौड़ा में रहते थे। परम्परा थी कि पिता के घर से ऐसे शुभ अवसर पर सम्मान के लिए कोई जाए और सबकी ओर से उपहार दे। बड़े भाई व्यस्त थे - अन्ततः नानालाल को जाना पड़ा। मन पीछे, तन आगे। जैसे-तैसे चले।

भादसौड़ा में मुनिश्री चौथमल जी का चातुर्मास था। प्रवचन चलते थे। नाना बैठ गया। मन नहीं रमा। एक कोने में उन्मन सुनता रहा। कहानी के लिए उसमें शुरू से एक विचित्र प्यास है। कहानी में से जो मिलता वह बड़े-बड़े पोथों से नहीं मिलता। प्रवचन आया गया हो गया; किन्तु जब मुनिश्री ने कहा कि कल वे एक अद्भुत-अपूर्व कहानी सुनायेंगे तो नाना का जाना रुक गया। उसने सोचा - कहानी सुनकर ही चलेंगे। बादल तो अपने हिसाब से बरसता है। नीम में नीम, ईख में ईख; बबूल में कांटा, आम में रस। मुनिश्री चौथमल जी का शब्द-शब्द अमृत-घूंट बनता गया। नींद खुलने लगी। पलकों के नीचे बैठा जिद्दी अंधियारा टूटने लगा। भीतर-भीतर एक भोर अंगड़ाई भरने लगी। उन्हें लगा कि काल-चक्र यदि इसी तरह घूमेगा तो जीवन व्यर्थ हो जाएगा। जीवन तो सार्थक करना ही है। उन्होंने काल की विकरालता को समझा। दुखमा-दुखमा, दुखमा को लेकर उनके मन में गहन उदासी छा गई। उदासी ने उदासीनता का रूप ले लिया। काल-चक्र रोम-रोम में घूमने लगा। दुखमा में करुणा सिंहासन से उतर जाएगी और क्रूरता उसकी जगह आ जाएगी - यह देख वे कांप उठे।



दुखमा-दुखमा में तो क्रूरताएं, युद्ध, संत्रास, संहार, आपाधापी के अलावा कुछ रह ही नहीं जाएगा। उनका रोआं-रोआं अन्तहीन क्रन्दन में तड़प उठा। काल-चक्र घूम रहा था और वे उसके विरुद्ध वीतरागता की परिकल्पना में झूम रहे थे। लग रहा था जैसे कोई वैराग्य इस बालक (अब किशोर) के चरण-स्पर्श की तैयारी में है। वनस्पतियों का हास, पर्यावरण का अद्यःपतन, दुखमा-दुखमा का अवरोहण - वे सिहर उठे। भादसोड़ा की चिनगारी भदेसर के मार्ग पर चली। घोड़े पर बैठे कुछ इस तरह कि मन के घोड़े पर भी लगाम लगे। मां से मिलने के लिए मन अकुलाने लगा। सोचने लगे - मां यहां होती तो अभी उनके पांव पकड़ लेता। मैंने उनकी व्रताराधना में कितने विघ्न डाले हैं - अभागा मैं कितना कर्त्तव्य-विमुख बना रहा? सोचते जाते, चलते जाते। भादसोड़ा और भदेसर के बीच का दस मील का फासला कब कम हो गया, पता ही नहीं चला। ऊहापोह में क्षण गल गए। भदेसर की सरहदी पर पहुंचते-पहुंचते उन्हें लगा कि कोई प्रकाश उनमें प्रवेश कर रहा है, ऐसा प्रकाश जो भीतर पैठे अन्धकार को पूरी तरह उलीच देगा और भीतर का सारा कल्मष बुहार फेकेगा। प्रकाश को उन्होंने अपनी भुजाओं में कस लिया। लगा वह उनके तीव्रतर संवाद में है।

अश्व-पृष्ठ पर सवार नाना/प्रकाश दोनों स्वाध्याय में निमग्न हैं। नाना की आंखों से आंसुओं की धार प्रवाहित है। घोड़ा उनकी वीतरागता को नहीं संभाल सका। वह हिनहनाने लगा। लगा, वह प्रकाश के स्पर्श से बच नहीं सका है। आंसुओं की कुछ बूंदों ने उसे भी उपकृत किया। नाना ने अपना अंगोछा हाथ में लिया और आंसू पोंछे। घोड़े को सहलाया। घोड़े को लगा कि नाना की हथेलियों में कोई आशीर्वाद जनम चुका है। भादसोड़ा ने इन हथेलियों में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की मृदुता उड़ेल दी। नाना घोड़े को सहलाते जाते और घोड़ा आत्म-विह्वल अपनी भाषा में कृतज्ञ हुआ पड़ता था। नानालाल ने सीमान्त पर खुद को संभाला। घोड़े को बांधा और स्वयं एक सघन वृक्ष की शीतल छांव में विश्राम करने लगे। मन-ही-मन उन्हें लगा कि जिस सत्य की खोज में वे हैं, उसकी पहली सीढ़ी उनकी पगतलियों के नीचे आ गई है। मंजिल दूर है-कंटकाकीर्ण है, किन्तु उसे पाना तो है ही। कुछ देर विश्राम के बाद वे ननिहाल की ओर चल पड़े। घोड़े से उतरे ही थे कि मां दिखाई दी। उन्होंने यह देखा, न वह, वे बिलख-बिलख कर रोने लगे। अश्रुधार थमती न थी।

बोले - 'मां, मैंने तुझे बहुत कष्ट दिए हैं। धर्म-ध्यान में कितनी बाधाएं मैंने पैदा की। आज जंगल में मंगल हो गया। मेरा तो जीवन ही बदल गया है। अब मैं कोई बाधा नहीं डालूंगा। जैसा कहेंगी, वैसा करूंगा। साधु-दर्शन के लिए तुझे मैं खुद ले चलूंगा। मुझे भंगुरता का सत्य मिल गया है। यहां इस जगत् में नित्य कुछ नहीं है। सबकुछ नाशवान् है। मैंने कालचक्र को उसकी संपूर्ण तीव्रता में घूमते देखा है। आरोहण-अवरोहण की इस प्रक्रिया में मुझे अब और नहीं पिसना है। मुक्त होना है। तू तो मुक्ति मार्ग पर है ही, मैं नहीं हूँ, अब हूँ, भरपूर हूँ। मुझे अन्तर्बोध हुआ है।'

मां का आंचल कृतकृत्य हो उठा। उसकी आंखें डबडबा आईं। वह सोचने लगी - यह सब कैसे हुआ? सहस्रों प्रश्न उसकी आंखों में बस्ती बना बैठे। वह नाना के भविष्य के बारे में चिन्तित हो उठी। उसे लगा, जैसे यह छोटा-सा तो है, किन्तु इसके भीतर तो पूरे विश्व का कल्याण स्पन्दित है। क्षण-भर को वह सोच बैठी कि कहीं यह भगवान महावीर की तरह सब कुछ छोड़ निर्ग्रन्थता को अंगीकार तो नहीं कर लेगा? अंतरंग से प्रतिध्वनित हुआ - "नाना जन्मा ही इसलिए है कि वह दुनियादारी को 'ना-

ना' कहे और निर्ग्रन्थता को 'हाँ-हाँ'।'' वह तब तक खुद में डूबी रही, जब तक नाना ने उसे 'मां' कह कर नहीं पुकारा और नहीं बताया कि उसने भादसौड़ा में क्या-क्या देखा-पाया?

नाना अपने अनुभव सुनाता जाता और मां अचम्भे में डूबी-भीगी सबकुछ सुनती जाती। काल-पुरुष भविष्य को वर्तमान किए अपनी खिड़की से सबकुछ देख रहा था। इस तरह भादसौड़ा की संवत्सरी का प्रभात भदेसर की संवत्सरी की शाम बना। भदेसर से दांता आते ही नानालाल का समग्र जीवन ही बदल गया। वह जहां भी अज्ञान, अन्धविश्वास, रूढ़ि, विवशता, दमन, शोषण देखता उसका हृदय चीत्कार उठता। उसके विद्रोही मन ने इन सबको अस्वीकार करना शुरू कर दिया। अपने बाल-मित्रों को वह पढ़ाने लगा। उन्हें धर्म की बातें बताने लगा। जब कभी वह किसी घाट-कुएं पर किसी बूढ़ी महिला को, दुर्बल/विवश मां-बहिन को घड़े लाते देखता और उसे लगता कि यह सब उसकी सीमा-सामर्थ्य से बाहर है तो वह खुद ही उसे उठाता और घर तक पहुंचा जाता। इस तरह नाना के भीतर करुणा के अनगिनत स्रोत खुल पड़े। उसका व्यक्तित्व नानाआयामी बनने लगा। वह कदम-दर-कदम पर सोचता और सर्वश्रेष्ठ को आकृति देने, उसे अपने जीवन में ढालने का प्रयत्न करता। काल-चक्र कहां रुकता है? समय-का-रथ अनवरत है। नानालाल के भीतर तूफान उठते, शान्त होते; किन्तु अब वह स्वर्ण-क्षण उसके द्वारा खटखटाने लगा था, जो उसके जीवन का सत्य बनने के लिए उत्कण्ठित था। उसे पता चला कि युवाचार्य श्री गणेशलाल जी कोटा में हैं। उसे लगा कि अब एक समय का प्रमाद भी नहीं करना है। जो क्षण देहलीज पर आ खड़ा हुआ है, उसका उपयोग तो करना ही है। संकल्प के सुदृढ़ होते ही वह कोटा चल दिया। कोटा में युवाचार्य श्री को जैसे ही देखा उसे लगा कि जिस गुरु की खोज में वह था, वह ठीक सामने हैं। इससे पूर्व वह कई साधुओं से मिला था, किन्तु किसी ने उसकी कसौटियों पर सही होने की सूचना नहीं दी। कोटा से पहले उसका परिचय व्यावर/कपासन में भी युवाचार्य श्री से हुआ था, किन्तु आज जिस सुदृढ़ मनोभूमिका पर युवाचार्य श्री का व्यक्तित्व आरूढ़ हुआ था - वह रोमांचक, मधुर, अद्भुत, विलक्षण था।

नानालाल ने कहा - ' भगवन्! शिष्य उपस्थित है। इसे अनुगृहीत कीजिए।'

युवाचार्य ने मुस्कराते हुए कहा - 'साधु बनना सरल नहीं है। वह बच्चों का खेल नहीं है। पहले साधुत्व को समझो। ज्ञान-तप सीखो। जब तक साधुचर्या को ठीक से जानोगे नहीं, यह मार्ग श्रेयस्कर नहीं होगा।'

युवाचार्य श्री की इस अनासक्ति और निष्कामता पर वह मुग्ध हो गया, उसके सामने और-और साधुओं की मुख-मुद्राएं आ खड़ी हुईं। एक कह रहा है - 'बनो साधु, आराम से जिन्दगी बसर होगी।' दूसरे का कथन है - 'चेला बन जाओ, फिर सब सिखा दूंगा।' तीसरे का सुर है - 'शिष्य बन जाओ, सम्प्रदाय का प्रमुख बनते देर नहीं लगेगी।' चौथे के शब्द हैं - 'जैसा संत मैं हूँ, वैसा तुझे कहीं नहीं मिलेगा, हम संयम का दृढ़ता से पालन करते हैं।' नानालाल को इन तमाम उत्तरों में कोई समाधान नहीं मिला। सत्य या सम्यक्त्व यदि कहीं मिला तो युवाचार्य श्री गणेशीलाल जी की वाणी में। वे कह रहे हैं - 'पहले गुरु को परखो, उसके बाद दीक्षा लो। दीक्षा के बाद तो अपनी आत्मा को तप-की-भट्टी पर चढ़ाना ही है। अभी तो आये हो। रुको! देखो! मुझे भी देखने का अवसर दो।'

नानालाल श्रद्धाभिभूत हो उठे। उन्हें लगा कि मैं जन्म-जन्मान्तर से जिस सद्गुरु की खोज में था, वह मुझे मिल गया है।

उन्होंने मन-ही-मन उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लिया। गुरु को तो परख लिया, किन्तु अभी खुद को तो इम्तहान देना था। जीवन का लगभग उन्नीसवाँ बसन्त चल रहा था। सत्य-की-खोज के लिए मन में घनीभूत छटपटाहट थी। कपासन के तालाब के किनारे आम्रवृक्षों के कुंज के मध्य एक विशाल आम्रवृक्ष के नीचे युवाचार्य गणेशलाल जी ने दीक्षा की महिमा और उसके स्वरूप पर मार्मिक प्रवचन देते हुए वैरागी नानालाल को मुनिश्री नानालाल के मनोज्ञ रूप में कायाकल्पित किया। नानालाल जी युवाचार्य श्री का प्रथम कर-स्पर्श पाकर कृत्य-कृत्य हो उठे। उनके मन-मस्तिष्क में गूँजने लगा - 'दीक्षा का अर्थ है अचंचल चित्त से मुक्ति के मार्ग पर सतत् अप्रमत्त गतिशील होना। दीक्षा की सार्थकता ही इसमें है कि वह साधना-पक्ष का दीपक बने और जहाँ भी तमस् हो वहाँ एक सुदृढ़ दीपस्तम्भ बनाये।' बारह भावना की यह भावना उनके रोम-रोम पर नृत्य करने लगी -

ज्ञान-दीप तप-तैल भर, घर सोधै भ्रम छोर। या विधि बिन निकसै नहीं पैठे पूरब चोर॥

इसके बाद वे स्वाध्याय और तप से अपना जीवन मांजने में लग गए। उनका दीक्षोपरान्त जीवन अध्ययन-मनन में निर्विघ्न बीतने लगा। व्याकरण, काव्य, योग, न्याय, आगम, कथा, कोश, छन्द, अलंकार, भाषा आदि सभी ज्ञान-क्षेत्रों का अध्ययन उन्होंने किया। संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं का गहन अभ्यास किया। मंथन के बाद रोमंथन की ओर उनका चित्त दौड़ा। रोमंथन स्वाध्याय की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। पढ़ना और पढ़कर जुगाली करना - उसे अपनी चेतना की मुख्य धारा में अटूट/समग्र डालना रोमंथन है। रोमंथन में ज्ञान की अभीक्ष्णता/बारम्बारता होती है, ताकि विषय की गहराइयों में उतरा जाए और उसके किसी भी टापू को अजाना न रहने दिया जाए। वाचन के बाद अधीन विषय का पाचन जरूरी होता है। मुनि श्री नानालाल जी के दीक्षोपरान्त जीवन के मुख्यतः तीन पक्ष थे - गुरुसेवा, संयम-भावना, गहन अध्ययन।

उन्होंने धर्म के बहुविध पक्षों का तलस्पर्शी अध्ययन किया, उसके दार्शनिक पहलू देखे, विज्ञान और धर्म के विभिन्न संदर्भों का तुलनात्मक मनन-चिन्तन किया। देखा कि धर्म और विज्ञान परस्पर पूरक हैं, दोनों में कोई टकराहट नहीं है। अब तक लोग विज्ञान को धर्म-विरोधी मानते थे। विज्ञान (साइंस) का झोंका पश्चिम से आया था, इसलिए लोगों की उसके प्रति सहज अनास्था थी। मुनिश्री ने इस अन्तर्विरोध को समझा और समाज को एक तर्कसंगत जीवन-पद्धति दी।

उन्होंने कहा - 'धर्म को किञ्चित् वैज्ञानिक और विज्ञान को किञ्चित् आध्यात्मिक होने की जरूरत है। दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं, पूरक अस्तित्व हैं।' उनके इस कृतित्व ने धर्म में एक अपूर्व यथार्थपरकता को जन्म दिया। अन्धविश्वासों और अंधी परम्पराओं के पांख उखड़े। जहाँ लोग ज्योतिष/मुहूर्त आदि के चक्कर में आ जाते थे, नानालाल जी महाराज के कृतित्व ने उन्हें यथार्थ की जमीन पर ला खड़ा किया। उन्होंने जैनधर्म के निर्मलतम रूप को लोगों के सामने रखा। अधिकतर लोग कर्मकाण्ड में फंसे/धंसे थे। आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी, शिवलाल जी, उदयसागर जी, चौथमल जी, श्रीलाल जी, जवाहरलाल जी, गणेशलाल जी इन सप्तर्षियों से जो बहुमूल्य विरासत मुनिश्री नानालाल जी को मिली, उसके महायोग को उन्होंने एक महान योगी की तरह सिर्फ जैन समाज को ही नहीं, वरन् अखिल मानव-समाज को उपलब्ध कराया। वे एक अकेले नहीं हैं; बल्कि वे 'हु' से लेकर 'ग' तक के 'ग्रांड टोटल' हैं। उनकी चेतना पर क्रियोद्धारक आचार्य हुक्मीचंद जी की निर्मलीकरण-क्रान्ति सदैव बनी रही। उन्होंने शिथिलाचार और प्रमाद को धर्म-के-क्षेत्र में निषिद्ध रखा। मुनिश्री अमरचंद जी का सुई भूलना (कानवन-1963) और

फिर लौटकर उसे संबंधित गृहस्थ को लौटाना उनकी संघ-साधु-चर्या में शिथिलाचार/प्रमाद के न होने का ज्वलंत प्रमाण है। वे मामूली बातों पर इतना अधिक बल देते थे कि किसी बड़ी घटना की आशंका होती ही नहीं थी। आज भी उनके संघ में शिथिलाचार, सुस्ती, प्रमाद आदि के लिए रेशे-भर भी जगह नहीं है। यदि हम गौर से देखते हैं तो आचार्य नानालाल जी के व्यक्तित्व में हमें साधुमार्गी परम्परा की समग्र शुद्ध चेतना का एक मीजान सहज ही मिल जाता है। साधुमार्ग में जो आचार-विचारगत उतार-चढ़ाव आए, उनकी एक संक्षिप्त रोमांचक सत्यकथा हमें आचार्य नानालाल जी के व्यक्तित्व में सरलता से मिलती है। आचार्य हुक्मीचंद जी को यदि हम साधुमार्ग की धुरी निरूपित करें तो पाएंगे कि उन्होंने आगम-सम्मत आचार-धर्म की पुनः संस्थापना की और साधु-संस्था का पुनर्निर्माण किया। यह बहुत बड़ा काम था। जो खालिस है, उसे बचाये रखना बहुत दुःसाध्य कार्य है, किन्तु हुक्मीचंद जी के व्यक्तित्व से कठोरता से काम लेकर धर्म के मूल स्वरूप की रक्षा की। संयम और साधना की यह कठोरता हमें आचार्य श्री नानालाल जी में अक्षरशः दिखाई देती है। केथोलिसिटी अर्थात् आचार की शुद्धता, अप्रमत्तता और मर्यादाओं का दृढ़ता से परिपालन आचार्य श्री नानालाल जी को आचार्य हुक्मीचंद जी से दाय में मिला।

आचार्य शिवलाल जी ने ज्ञान और चारित्र के मणि-कांचन योग को महत्त्व दिया। उन्होंने कभी भी आचार-च्युत साधुओं को अपने संघ में स्वीकार नहीं किया। आचार्य हुक्मीचंद जी की परम्परा को वे शत-प्रतिशत निभाते रहे। आचार्य उदयसागर जी का बोध-वाक्य था - संयम पहले, विद्वता तदनन्तर। यह भी आचार्य नानालाल जी को रिक्थ में मिला। क्रियोद्धार का जो काम आचार्य हुक्मीचंद जी ने शुरू किया था, संयम के पुनरुद्धार का वह काम आचार्य चौथमल जी तक आकर संपूर्ण हुआ। चौथमल जी ने साफ शब्दों में कहा - साधुमार्ग को चाहे जितने संकट या आपदाएं झेलनी पड़ें, किन्तु संयम की रेशे-भर भी क्षति न हो। आचार्य चौथमल जी ने समाज के आन्तरिक गठन और विकास पर बल दिया और एक सशक्त समाज के संस्थापन में ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया। वे प्रतिक्षण शिथिलता और प्रमाद के लिए वज्र-की-भांति कठोर बने रहे। वे इस बात से तो संतुष्ट रहे कि शिष्यों की संख्या कम हो, किन्तु उन्होंने शिथिलाचार का कोई सन्धि-द्वार खुले इसे स्वप्न में भी स्वीकार नहीं किया। आचार्य श्रीलाल जी ने अहिंसा के धुंधलाते स्वरूप को धूप की तरह स्पष्ट किया। उन्होंने अहिंसा को सर्वोपरि माना और उसकी छाया में जीवदया के स्वस्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया। मेमने की घटना (1948 ई.) में हम जीवदया के इस परिपक्व रूप का अनुभव कर सकते हैं। स्पष्टतः आचार्य नानालाल जी ने अपने पूर्वाचार्यों के आदर्शों और सिद्धान्तों को अक्षरशः जिया। उन्होंने उसमें जोड़ा ही, कम तिल-भर भी नहीं किया।

आचार्य जवाहरलाल जी ने धर्म को बहुआयामी बनाया। उन्होंने राष्ट्र और धर्म के अलग होते रूपों को अलग होने से रोका। उनमें अदम्य साहस, अखण्ड मानवता/मानवीयता, असीम मनोबल, उदार दृष्टि, राष्ट्रीय चिन्तन, स्वदेशी के प्रति उत्कृष्ट आस्था और शिथिलाचार के प्रति विद्रोह कूट-कूट कर भरे थे। उन्होंने बुराइयों, शिथिलताओं और दुर्बलताओं से कभी कोई समझौता नहीं किया। उन्होंने पलभर को भी ऐसा कुछ नहीं किया, जिससे जैन धर्म/दर्शन की मौलिक छवि धूमिल हो। उनके व्यक्तित्व में जैनधर्म को एक चिरप्रतीष्ठित बहुमुखीनता मिली। उनका सोलह सूत्री थादला घोषणा-पत्र (1908) आज भी जीवन्त है। जीवदया, अछूतोद्धार, विधवाओं की दुर्दशा में सुधार आज भी अपनी स्वस्थ/विस्मृत आकृति ढूंढ रहे हैं। यदि हम उनके कृतित्व

का कोई जीता-जागता रूप देखना चाहते हैं तो वह हमें आचार्य नानालाल जी में दिखाई दे सकता है। 'तीर्थकर' के 'साधुमार्ग विशेषांक' के पृष्ठ 202 पर प्रकाशित ये पंक्तियां उनके व्यक्तित्व की एक संक्षिप्त झलक देती हैं - '1942 में उन्हें (आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. को) लकवा हुआ। 18 जून, 1942 में उनका जो क्षमा पत्र प्रकाशित हुआ, वह उनकी आन्तरिक निर्मलता और शिथिलाचार के विरुद्ध जीवन-भर जूझी गई लड़ाई का जीवन्त प्रतीक है। 10 जुलाई को यह सूरज डूब गया - किन्तु क्या हम मानें कि वह डूब गया? क्या सूरज कभी डूबता है? जो सूरत रात-भर किसी और मुल्क में रोशनी देने यात्रा पर निकल गया था, वह पुनः आचार्य गणेशलाल जी और नानालाल जी के रूप में क्षितिज पर आ गया और उसने सारे समाज को पुनः अभिनव प्रकाश से जगमगा दिया। जब हम आचार्य गणेशलाल जी के महान् व्यक्तित्व की समीक्षा करते हैं तब पाते हैं कि वे प्राचीनता और नूतनता के बीच एक अपूर्व सेतुबन्ध थे। उन्होंने नवीनता के प्रति कभी कोई अप्रसन्नता प्रकट नहीं की, किन्तु प्राचीनता के गौरव को उन्होंने एक क्षण को भी विस्मृत नहीं किया। दोनों से निर्मल सृजनधर्मिता (क्रिएटिविटी) को लिया और समाज को नव्य स्वरूप प्रदान करने में कोई कसर नहीं रखी।

आचार्य नानालाल जी का जीवन इन छः धन-चिन्हों की गौरव गाथा है - हु+शि+उ+चौ+श्री+ज+ग = ना। इस समीकरण को ध्यान से देखना चाहिए। यदि हम इतिहास का सिन्धु मन्थन करेंगे तो पता चलेगा कि आचार्य नानालाल जी का व्यक्तित्व एक ऐसा जीवन्त त्रिभुज है जिसे सात शिल्पियों की चूना-माटी ने घड़ा है। समता-दर्शन, समीक्षण-ध्यान और धर्मपाल-अभियान का त्रिभुज साधुमार्ग का अनुपम अवदान है। हम जानते हैं कि आचार्य नानालाल जी को यह सब अपने पूर्वाचार्यों से मिला, किन्तु यह उनकी अपनी पारिवारिक/सांस्कारिक विरासत भी है। करौली से बनबना ग्राम तक दलितोद्धार का जो शंखनाद हुआ, वह साधुमार्ग की मानवीय उपलब्धियों का सर्वोच्च शिखर है। समता-दर्शन सामाजिक और आन्तरिक/आध्यात्मिक क्रान्ति का एक ऐसा सुदृढ़ आधार है, जो पूरे विश्व को शान्ति और अयुद्ध की निर्मल भूमिका प्रदान कर सकता है। सिर्फ मीडिया के युद्ध में हारते चलने के कारण इस त्रिभुज को भले ही सीमित कर लिया गया हो वरन् इसका सार्वभौम स्वरूप अखिल मानवता के लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

30 सितम्बर, 1962 की सुबह एक ऐसी सुबह है, जिसकी रोशनी कभी कम नहीं होगी। मुनिश्री नानालाल जी को युवाचार्य की चादर ओढ़ाई जा रही है। चारों ओर गगनचुम्बी जयघोष है। दांता से उनकी पूज्या माता भी आई हैं। ये वही शृंगारबाई हैं, जिनके चरणों में लुढ़ककर उन्नीस वर्षीय तरुण नाना भदेसर में फफक-फफक कर रोया था। संवत्सरी की वह शाम पूरी दुनिया की एक अविस्मरणीय सुबह बनी है। उस दिन के आंसुओं ने ही बलाइयों के आंसू पोछे हैं। आंखें बंद कीजिए और इन दो दृश्यों को देखिए -

एक : नानालाल पूज्या मां के चरणों में झुके हुए हैं और अपने अपराधों के प्रति क्षमा-याचना कर रहे हैं। मां ने उन्हें उठाकर अपनी छाती से लगा लिया है। मां की यह छाती विश्व की किसी भी माता की पवित्र थाती है। उन्होंने नाना को क्षमा तो किया है, उसके लिए वैराग्य की दिशाएं भी उन्मुक्त कर दी। नाना का नानाआयामी व्यक्तित्व अपनी पूज्या मां का पारस-स्पर्श पाकर खिल उठा।

दो : यह दृश्य उदयपुर का है। मुनिश्री नानालाल जी को युवाचार्य पद की चादर ओढ़ा दी गई है। माता शृंगारबाई आचार्यवर गणेशलाल जी के सामने वन्दना की मुद्रा में उपस्थित हैं। आचार्यवर पूछ रहे हैं - 'बेटे के दर्शन किए या नहीं? अब वह छोटा नहीं रहा है।' मां के लिए युवाचार्य बेटा भी है, बेटा नहीं भी है। बेटा अतीत में कहीं खो गया है। वह भदेसर में अपनी ननिहाल में आज भी है। सामने बेटा नहीं है, एक संघ का युवाचार्य है। पूज्य है। भदेसर में मां के चरणों में एक बेटे का मस्तक झुका या आज एक मां का मस्तक एक जैन साधु के चरणों में झुका है। बेटा अब कहां है? बेटे में से एक युवाचार्य प्रकट हुआ है।

मां रोमांचित है। वह अपने मातृत्व को लोरियां गाकर सुला रही है, किन्तु वह सो नहीं पा रहा है। वह सोच रही है। नाना से कुछ कहे, किन्तु कुछ कह नहीं पा रही है। उसकी आंखों में अश्रुधारा है और देह पर शब्दातीत पुलक। मातृत्व की लिपि कौन समझेगा? यह मोह-माया की भाषा नहीं है - आत्मोन्नयन की भाषा है। शृंगारबाई ने नाना को जन्म देकर पूरी वसुन्धरा का शृंगार किया है। उसने इसे जन्म देकर एक ऐसे शीतल निर्झर को जन्म दिया है जो पूरे विश्व को निर्मलताओं से, करुणा से, कान्ति से, शान्ति से, अयुद्ध से, अहिंसा से अभिषिक्त करने की क्षमता रखता है। शृंगारबाई का सार्वभौम मातृत्व कह रहा है - 'देखना बेटे, मेरे दूध की चादर पर कोई दाग न आए।' यह मात्र दांता के मातृत्व की पुकार नहीं है, सार्वभौम मातृत्व की मर्मस्पर्शी इंगिति है, जिसने आचार्य श्री नानालाल जी में शुभाकृति ग्रहण की है। जो अभियान/अनुष्ठान आचार्य हुक्मीचंद जी ने शुरू किया था, क्या शृंगारबाई के इस वाक्य में उसी देशना की पुनरावृत्ति नहीं है? आज जब कि जैन साधुत्व की धौली चादर पर असंख्य दाग उभर रहे हैं, कोई भी गौरव के साथ कह सकता है कि साधुमार्ग की धवल, शुभ्र चादर अभी पूरी तरह निष्कलंक है। क्या इस निष्कलंकता का श्रेय आचार्य श्री नानालाल जी को नहीं है?



मन्दसौर वर्षावास के बाद सरवनिया महाराज ग्राम में 17 ग्रामों के प्रतिनिधियों ने जो उन्नीस प्रतिज्ञाएं ली थी, क्या साधु-समाज में घटित क्रान्ति के बाद, समाज में घटित क्रान्ति का यह एक सार्थक और प्रासंगिक दस्तावेज नहीं है? सरवनिया महाराज ग्राम के क्षितिज से लौट कर उन प्रतिनिधियों की वह आवाज आज भी सर्वत्र प्रतिध्वनित है कि हम -

1. मौसर या स्वामी-वात्सल्य आदि किसी भी नाम से किए जाने वाले मृत्यु-भोज में न तो जीमने जाएंगे और न ही ऐसा कोई मृत्युभोज देंगे।
2. विवाह में तिलक या लेन-देन की सौदेबाजी नहीं करेंगे।
3. सगाई होने के बाद उसे कोई पक्ष नहीं तोड़ेगा।
4. मृत्यु के बाद एक मास से अधिक का शोक नहीं रखेंगे।
5. धर्म-स्थान पर सादा वेशभूषा में जाएंगे और प्रवचन में मौन रहेंगे।
6. स्वयं यथाशक्ति धार्मिक शिक्षण लेंगे तथा बालक-बालिकाओं को दिलायेंगे।
7. धर्म-स्थान अथवा सामूहिक स्थान पर प्रतिदिन सामूहिक प्रार्थना करेंगे।
8. विवाह आदि समारोहों पर गंदे गीत गाने पर रोक लगायेंगे/लगवायेंगे।

9. जाति एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में व्यर्थ खर्च नहीं करेंगे।
10. प्रातः उठते समय तथा सायं सोते समय ग्यारह बार नवकार मंत्र का जाप करेंगे।
11. दीक्षार्थी भाई-बहिनों की दीक्षा-भावना में बाधक नहीं बनेंगे, बल्कि उन्हें सहयोग देंगे और उसे सादगी से सम्पन्न करायेंगे।
12. कोई भी भाई-बहिन त्यौहारों के दिनों में शोक वाले के यहां रोने-रुलाने के लिए नहीं जाएंगे।
13. विवाह आदि अवसरों पर बैंड-बाजों में अनावश्यक खर्च नहीं करेंगे।
14. प्रतिदिन एक या माह में तीस सामायिक सम्पन्न करेंगे।
15. जाति-सम्बन्धों एवं व्यक्तिगत झगड़ों को धर्म में नहीं डालेंगे।
16. अनमेल विवाह नहीं करेंगे।
17. आध्यात्मिक आहार-हेतु धार्मिक पुस्तकों का यथाशक्ति पठन-पाठन करेंगे।
18. संत-सतियों के यहां जहां भी दर्शनार्थी जाएंगे, वहां सादा भोजन करेंगे।
19. नैतिक एवं चारित्रिक बल बढ़ाने तथा असहायों की सहायता करने हेतु यथाशक्ति उदारता बरतेंगे।

क्या उपर्युक्त प्रतिज्ञाएं आज प्रासंगिक नहीं हैं? इन्दौर की संस्कार क्रान्ति (1987) इसी का युगानुरूप संस्करण है।

आज श्री आचार्य नानालाल जी का बहुआयामी रचनात्मक संग्राम ग्राम-ग्राम/नगर-नगर में यथापूर्व है, आवश्यकता है इसमें नये प्राण फूंकने की, ताकि यह आज के तनाव-ग्रस्त जीवन में शान्ति-सुख का अविरल स्रोत बन सके।

(दीक्षोपरान्त जीवन-संदर्भ के लिए चातुर्मासिक उपलब्धियां, प्रसंग, अवदान आदि देखिए)





शोधन



जोधपुर (1978) में उन्होंने जो पंचसूत्री देशना दी, उसमें उनके पचपन वर्षों का सार आ गया है। ये सूत्र जन जागरण और सामाजिक क्रान्ति के प्रमुख आधार बने। इन्हीं सृजनधर्मा क्षणों में उन्होंने 'जन्मना' महत्ता को नकारा और 'कर्मणा' महत्ता को स्वीकार किया। भगवान महावीर की वाणी को मैदान में जीने का उनका यह उपक्रम पूरे देश के लिए क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ (हो सकता है)।

शोधन

आत्मशोध की प्रक्रिया बड़ी सूक्ष्म और संवेदनशील प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति के तन-मन को कई विकट घाटियों और बियावान जंगलों से गुजरना होता है। कई तूफान, कई आंधियां, कई फिसलनें उसकी जिन्दगी में आती हैं। कई बार तो असावधानी में पांव ही फिसल जाता है। इस तरह मंजिलें-तलाशती उम्र किस मोड़ पर किस सीढ़ी पर अपना पांव रख लेगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। आचार्य श्री नानालाल जी का जीवन सुख-दुःख की धूप-छांव में से गुजरता जीवन है - ऐसा जीवन जो कभी झरना है, तो कभी नदी; कभी समन्दर है, तो कभी मेघ; कभी धरती है, तो कभी आकाश; कभी कछुआ है, तो कभी खरगोश। उनका बहुआयामी जीवन लगभग सात दशकों में विस्तृत है - 1920 ई. से 1992 ई. तक। रोशनदान अभी खुले हैं। नई रोशनी और ताजा हवा को आने की भरपूर अनुमति है। न कोई रूढ़ि है, न कोई अन्धविश्वास; चारों ओर सत्य और सम्यक्त्व की चांदनी छिटकी हुई है।तो आइये, हम इस मनीषी के परिवर्तनक्षम जीवन को अलग-अलग दशकों में देखते हैं -

••* एक *•*•*

1920 ई. से 1930 ई. तक के दस वर्ष खेलने-खाने के वर्ष हैं। मां की गोद, घर का आंगन, नदी का तट, आस-पास की पहाड़ियां और खेल का मैदान। दांता ग्राम में नानालाल जी (तब उन्हें 'नाना' ही कहा जाता था) के ये वर्ष परिजनों और बाल-सखाओं के बीच गुजरे। इस अल्पवय में भी वे खेलते-खेलते स्वयं में डूब जाते। अन्तरावलोकन की यह वृत्ति उनके जीवन में आज भी है - अब बहुत गहरी, बहुत एकाग्र, अत्यन्त तीव्र। सादगी, सारल्य, मैत्री, मदद, सहजता, प्रकृति से अनुराग, वृद्धों की सेवा, एकान्त-प्रियता उनमें शुरू से है। आठ वर्ष की उम्र में पितृ-वियोग ने उन्हें सहिष्णु, कर्मठ और अनासक्त बनाया। विधि की क्रूरता ने उनके भीतर सुषुप्त करुणा के स्रोत खोल दिए। वे जब भी किसी को व्यथित-विवश देखते, आंखों में आंसू लिए उनकी ओर दौड़ पड़ते। बूढ़ी-दुर्बल मां-बहिनों के घड़े उठा कर उनके घरों तक पहुंचा देना उनके लिए बहुत सामान्य था। यह तो उनसे लगभग रोज ही होता था। मेमने की करुणार्द पुकार तो उन्हें आज भी सुनायी देती है। स्वावलम्बन का पाठ उन्होंने बचपन में ही पढ़ लिया। वे अपने कामों के लिए कभी किसी का सहारा लेना जानते ही न थे। उन्होंने सदैव-इसीलिए आज भी-' अपना हाथ जगन्नाथ' - माना। शिक्षा उनकी अधिक नहीं हुई। चौथी तक पढ़े।

••* दो *•*•*

1931 से 1940 तक का दशक उनके जीवन का क्रान्तिकारी दशक सिद्ध हुआ। पहले उन्होंने पैतृक व्यवसाय निभाया; किन्तु बाद को अपने चचेरे भाई श्री कन्हैयालाल के साथ व्यापार शुरू किया। मन नहीं लगा। चित्त उन्मन बना रहा। ज्योतिर्धर आचार्य जवाहरलाल जी के संपर्क में उन्हें सम्यक्त्व और सत्य की झलक मिली। किशोर वय की चंचलताओं के बीच भी उनमें सम्यक्त्व का यह बीज पनपने लगा। उनके समागम से उनमें आध्यात्मिक अभिरुचि पैदा हुई। भीतर खलबली मची। सत्य और सम्यक्त्व उनके मुख-मण्डल कर कौंधने लगे। भोपाल सागर (1933 ई.) और भादसौड़ा (1937) उनके लिए क्रान्ति-स्थान साबित हुए। जो बालक मां के व्रताराधन की खिल्ली उड़ाता था, वह खुद एक चौथाई रोटी पर रहने लगा। वर्ष 1938 में दीक्षा का अंकुर

प्रस्फुटित हुआ। सच्चे गुरु के लिए वे छटपटा उठे। 1940 ई. में वैराग्य तरुण हुआ और कपासन में उन्होंने दीक्षा ले ली। जब जुलूस निकालने का प्रस्ताव हुआ तब मुकर गये। उनके विद्रोही चित्त ने रुढ़ियों को कभी स्वीकार नहीं किया।

••* तीन *•*•*

तीसरे दशक (1941-1950) में उन्होंने अपना आगम-ज्ञान बढ़ाया। जमकर शास्त्राभ्यास किया। विनय, विवेक, सम्मान, स्वाध्याय और वैयावृत्य को जीवन का साथी बनाया। देखें तो ये सब आगम-ज्ञान के ही सुफल हैं। बगड़ी (1941) में त्रिवेणी संगम हुआ। आचार्य श्री जवाहरलाल जी युवाचार्य श्री गणेशलाल जी और मुनि श्री नानालाल जी का मिलन। इस महामिलन के निर्मल प्रतिबिम्ब उनके जीवन में स्पष्ट देखे जा सकते हैं। वर्ष 1948 में सूखे नाले में फंसे मेमने की प्राण-रक्षा उनके भीतर सयानी हो रही करुणा और अहिंसा की ही निर्मल आकृतियां हैं। वर्ष 1949 में जयपुर-हिंडौन मार्ग पर करौली ग्राम में हरिजन से हुई भेंट पन्द्रह वर्षों बाद मध्यप्रदेश के बनबना ग्राम में धर्मपाल-प्रवृत्ति के रूप में अंकुरित हुई। इस बीच उनके भीतर सांस्कृतिक रोमंथन चलता रहा।

••* चार *•*•*

चौथा दशक (1951-1960) गुरु-सेवा, स्वाध्याय, आत्म-जागृति, साधना आदि में व्यतीत हुआ। इस अवधि में उनका जीवन स्वयं संदेश बनने लगा। उनमें अन्तर्मुखता समृद्ध हुई। मन भीड़ से हटने लगा। व्यक्तित्व में दृढ़ता सृजनधर्मिता और सत्यानुसंधान की वृत्ति मुख्य बनी।

••* पांच *•*•*

पांचवां दशक (1961-1970) उनके जीवन का सर्वाधिक हलचल वाला दशक सिद्ध हुआ। इस अवधि में उन्हें अपने भीतर पैठने में यथेष्ट सफलता मिली। युवाचार्य/आचार्य तो वे बने ही, स्वदेशी के प्रति उनकी निष्ठा, अहिंसा के प्रति अविचल आस्था, विज्ञान के प्रति गंभीर रुझान आदि प्रवृत्तियां भी उनके जीवन से जुड़ीं। रायपुर (1965) में शोधन की वृत्ति तीव्रतर बनी। मन्दसौर (1969) में उनकी इस वृत्ति ने आध्यात्मिक मोड़ लिया और वह नये सामाजिक परिवेश की रचना में प्रवृत्त हुई।

••* छह *•*•*

पांचवें दशक में जिस तरह धर्मपाल-प्रवृत्ति ने ठोस आकार ग्रहण किया, ठीक वैसे ही छठे दशक (1971-1980) के द्वितीय वर्ष में समता-दर्शन प्रवर्तित हुआ। वस्तुतः यह धर्मपाल-प्रवृत्ति का ही आध्यात्मिक संस्करण था; किन्तु इसमें व्यक्ति को भीतर से बदलकर समाज को शुद्ध करने का जो संकल्प था, उसकी वजह से यह एक क्रान्तिकारी कदम सिद्ध हुआ। सरदारशहर (1974) में उन्होंने एकता का शंखनाद किया और साम्प्रदायिक समन्वय के लिए तमाम पूर्वाग्रह छोड़ने की तैयारी बतायी। भोपालगढ़ (1976) में आचार्य श्री हस्तीमल जी से हुआ उनका ऐतिहासिक मिलन एक अविस्मरणीय घटना है। जोधपुर में उन्होंने जो पंचसूत्री देशना दी, उसमें उनके गत पचपन वर्षों का अत्यन्त परिपक्व प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। ये सूत्र आगे चलकर जन-जागरण और सामाजिक क्रान्ति के प्रमुख आधार बने। इन्हीं सृजनधर्मा/क्रान्तिकारी क्षणों में उन्होंने जन्मना महत्ता को नकारा और कर्मणा महत्ता को स्वीकार किया। भगवान महावीर की वाणी को मैदान में लाने का उनका यह उपक्रम पूरे देश के लिए क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। अजमेर (1979) में उन्होंने व्यक्ति-उत्थान के सूत्र दिए। व्यक्ति को आत्म-बोध की दिशा में प्रवृत्त

करने का यह अभिनव श्रीगणेश था।

ॐ सात ॐ

सातवां दशक (1981-1990) उनके जीवन का एक ऐतिहासिक दशक कहा जाएगा। 1981 में उन्होंने अपनी जन्मस्थली दांता में एक त्रिमुखी अभियान प्रवर्तित किया। ब्रह्मचर्य-अभियान, दहेज-उन्मूलन-अभियान, आदिवासी-जागरण/व्यसन मुक्ति अभियान। व्यसन मुक्ति अभियान का अंकुर इन्दौर (1987) में संस्कार-क्रान्ति का कल्पवृक्ष बना। दशकारम्भ में आचार्यश्री का ध्यान आगम, प्राकृत, अहिंसा, समता पर गया। पूरे दशक वे अध्ययन/अनुसंधान तथा आगम की मौलिकताओं को विवृत करने में लगे रहे। जलगांव (1986) को हम इन्दौर में प्रवर्तित संस्कार-क्रान्ति की पृष्ठभूमि निरूपित कर सकते हैं। कानोड़ (1989) में आचार्यश्री ने संस्कार-क्रान्ति में शाकाहार के प्रचार-प्रसार को भी समाविष्ट किया। शाकाहार अहिंसा का ही रूपान्तर है। पिपलिया कलां (1991) में उन्होंने शिक्षित जैन युवावर्ग को धर्म और व्यसन मुक्ति की दिशा में लाने का सफल प्रयास किया।



आठवें दशक (1991) का सूरज अभी चढ़ रहा है। पिपलियां कलां (1991) में समीक्षण-ध्यान को जिस तरह लोकप्रिय/समूहगत बनाने का प्रयत्न हुआ है, उससे लगता है कि आचार्यश्री व्यक्ति-शुद्धि से समाज-शुद्धि की दिशा में तेजी से अग्रसर हैं। यदि व्यक्ति का चित्त/उसकी चेतना शुद्ध होती है, तो निश्चित है कि समाज के शुद्ध होने में देर नहीं लगेगी।

ॐ



प्रसंग



- क्रोध ओले की तरह गल गया
- कान बना मकान
- धोरा दूध री चादर
- हम स्वयं बनें अन्नदाता
- सुई की आंख में से भी निकल सकता है ऊँट
- भेड़ को मिला अभय
- लोहे की लकीर

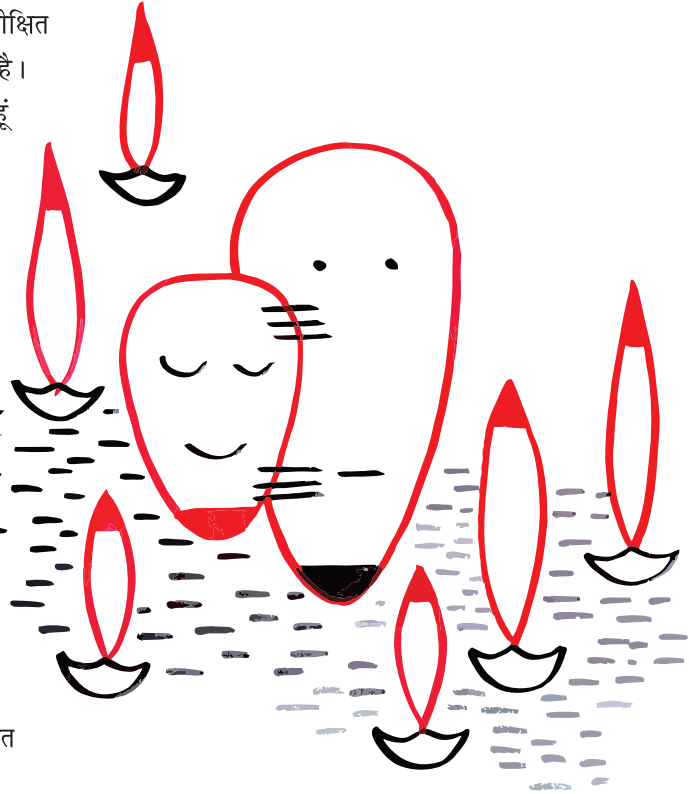
और सुनो, हम छुआछूत जरा भी नहीं मानते। भगवान महावीर का कथन है कि कोई आदमी जन्म से नहीं, कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होता है। जैसा वह करता है, उसी में से उसके होने की इबारत बनती है। तुम हरिजन नहीं हो, इन्सान हो।

1. क्रोध ओले की तरह गल गया

वर्ष 1940। फलौदी का वर्षावास। मुनिश्री रतनलाल जी मौन खड़े हैं। कुछ सोचते से। उनकी मुख-मुद्रा पर प्रशमरतित्व है। वैराग्य अपने संपूर्ण वैभव के साथ उनके रोम-रोम में प्रकट हुआ है। वैसे वे स्वभाव के प्रखर हैं। अत्यन्त सुलभकोपी। मन साफ है। झुंझलाहट जब-तब हो आती है। जब कभी कोई शिथिलता या प्रमाद देखते हैं, मन खिन्न हो उठता है और गुस्सा झनझना पड़ता है। ऐसे में वे स्वयं को संभाल नहीं पाते हैं।

वे मौन खड़े हैं। सोच रहे हैं - यह जो नवदीक्षित साधु (नानालाल) है, वह बड़ा विलक्षण पुरुष है। कभी कुछ बोलता ही नहीं है। जब भी देखता हूँ इसके चेहरे पर मुस्कराहट नृत्य-विभोर होती है। इसे देख लगता है जैसे कोई हरा-भरा खेत है और मन पर अपनी हरीतिमा बिखेर रहा है। कभी लगता है जैसे सावन-भादो की कोई सजल बदली बरसने आई है। इसके मुख-मण्डल पर क्रोध को कभी देखा ही नहीं। इस सुभर तरुणाई में इसने क्रोध को कैसे जीत लिया? देख रहा हूँ क्रोध इसके सामने एक विनम्र दास की तरह खड़ा है और यह मुस्करा रहा है। मैं सब पर क्रोध कर सकता हूँ, पर जब इसके सामने होता हूँ, पता नहीं तब क्रोध किस द्वार से निकल भागता है? अद्भुत है वह व्यक्ति, विलक्षण है इसका व्यक्तित्व। जब देखा विनम्र, जहां देखो एक सस्मित मुख-मुद्रा।

यह नहीं भी होता है तो भी इसका चेहरा आठों याम मेरे साथ बना रहता है। कभी सोचता हूँ - इस पर क्रोध करुं; किन्तु जैसे ही यह सामने आता है, क्रोध ओले की तरह गल जाता है। रोम-रोम गंगा की धार बन पड़ता है। तन-मन पर करुणा की अविरल/शीतल धारा आ लगती है। सोचता हूँ यदि इसके साथ कुछ दिन और रहा तो क्रोध अपना रास्ता भूल जाएगा और मैं क्षमा के आकाश की तरह अन्तहीन आकिंचन्य में डुबकियां लेने लगूंगा।



पता नहीं कैसे, मन में बहुत गहरे, इसने मुझे बिन्दु-से-सिन्धु बना दिया है। क्या मैं इस पर और इसके रहते किसी अन्य पर क्रोध कर पाऊंगा।



कुछ दिनों बाद लोगों ने देखा कि रतनमुनि जी रत+न मुनिजी बन गए हैं। क्रोध के प्रति उनमें विरति उत्पन्न हुई। क्षमा ने उन्हें अभिषिक्त किया है। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही बदल गया है। उनके चेहरे पर नवदीक्षित मुनिश्री की मुस्कराहट अठखेलियां करने लगी हैं - पर उससे क्या, नाना-प्रदीप की जोत कम हुई। नहीं, वह और बढ़ गई। एक दीये से दूसरा दीया प्रज्वलित होकर भी किसी दीये की जोत कम नहीं करता। क्षमा और तितिक्षा के दीप इसी तरह के दीप हैं।



2. कान बना मकान

वर्ष 1949। जयपुर-हिण्डौन मार्ग। करौली के आस-पास सूरज अस्ताचल की ओर झुक गया है। डूबते सूरज की लालिमा चारों ओर बिखरने लगी है। पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, पशु-पक्षी सब शाम की इस लालिमा में नहाये-से लग रहे हैं। पक्षी अपने घोंसलों की ओर उड़े जा रहे हैं। महाराज श्री अन्य साधुओं के साथ पास के एक ग्राम-सीमान्त पर खड़े हैं। निकट



ही मकान है। मकान के बाहर एक व्यक्ति बैठा है। कृशकाय, जीर्णशीर्ण वस्त्र। भारतीयता का ज्वलन्त प्रतिनिधि।

मुनिश्री पूछ रहे हैं - भाई, क्या यह मकान तुम्हारा है?

व्यक्ति कह रहा है - नहीं, ग्राम-पंचायत का है।

मुनिश्री ने प्रश्न किया है - क्या तुम हमें रात-भर यहां ठहरने की आज्ञा दे सकोगे? व्यक्ति सकपका गया है। साधु और आज्ञा - वह ठीक से फैसला नहीं कर पा रहा है। सोच रहा है। ये तो हमारे पूज्य हैं। बहती

नदी हैं। रमते योगी हैं। आज यहां, कल वहां। निर्मल जल। इन्हें किसी से क्या लेना और क्या देना। संकोच में पड़ा बोला – महाराज, आज्ञा कैसे दे सकूंगा? आज्ञा और आप! असंभव...।

मुनिश्री असमंजस में पड़ गए। उन्होंने विनम्र स्वर में कहा – भाई! हम तो रात-भर रहेंगे। हमारे लिए तो बरामदा ही काफी होगा। तुम पर कोई बोझ नहीं डालेंगे।

व्यक्ति बोला – बोझ की कोई बात नहीं है महाराज, मकान खाली है। बिछौने में घर से ले आऊंगा। लेकिन.....। लगा कुछ कहते-कहते कई शताब्दियां उसके गले में अटक गई हैं। उसने बहुत धीमे स्वर में कहा – महाराज और कोई बात नहीं है, सिर्फ यह कि मैं हरिजन हूं। महाराज श्री ने साश्चर्य कहा – तो इससे क्या? हमारे लिए सब बराबर हैं।

व्यक्ति चमत्कृत खड़ा रहा। अचम्भे में पड़ा बोला – तो क्या सचमुच आप एक हरिजन की आज्ञा से यहां ठहर जाएंगे?

मुनिश्री ने भरोसा दिलाया कि वे जात-पात को जन्म-की-अपेक्षा से नहीं मानते और न ही छूआछूत में उनका कोई विश्वास ही है।

हरिजन का चेहरा हर्षोल्लास से खिल उठा। उसे लगा जैसे उसकी देहलीज पर कोई चिर-प्रतीक्षित सूरज आ खड़ा हुआ है और आने वाले किसी परिवर्तन की रश्मियां उसके मन-के-आंगन में बिखेर रहा है। उसने सशंक पूछा – क्या आप मुझे अपने पैर छूने देंगे?

महाराज श्री ने कहा – वैसे मैं किसी से यह नहीं कहता कि तुम मेरे पैर छूओ, किन्तु यदि कोई छूता है तो मैं कोई एतराज नहीं करता। और सुनो – हम छूआछूत को जरा भी नहीं मानते। भगवान् महावीर का कथन है कि कोई आदमी जन्म से नहीं कर्म से ही ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र होता है। जैसा वह करता है, उसी में से उसके होने की कसौटी बनती है। तुम हरिजन नहीं हो, इंसान हो।

हरिजन बन्धु की आंखें डबडबा आईं। सदियों का कलुष-कल्मष आंसुओं के रूप में उसकी आंखों से बह निकला। उसे लगा जैसे अंधेरा भाग रहा है और रोशनी उसका द्वार खटखटा रही है। उसने मुनिश्री के पैर छुए। छूते-छूते उसे रोमांच हो आया। उसने जैनधर्म की सामान्य/गहन जानकारी ली और कहा महाराज, यहां के सात सौ गांवों में हजारों हरिजन हैं, जो एक ऐसे ही सवेरे की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आजादी के बाद अभी रात बीती ही कहां है? बात यह है, हमें आजादी आधी रात को मिली थी और लगता है अभी वह रात खत्म नहीं हुई है। आप आये हैं तो लग रहा है कि आप अपने साथ कोई सुखद सवेरा लाए हैं।



उसने पुनः मुनिश्री के चरण छुए तो लगा जैसे सम्पूर्ण मानवता के ललाट पर लगी कालिख धुल गई है और उसकी जगह मंगल प्रभात का कोई बाल सूर्य आकर टंक गया है।





3. धोरा दूध री चादर

उदयपुर 30 सितम्बर, 1962। सूरज गोखड़ का विशाल मैदान। ठसाठस। तिल रखने की भी जगह नहीं। आचार्य श्री गणेशलाल जी पाट पर आसीन हैं। उन्हें एक शुभ्र-धवल-शोभन चादर ओढ़ाई गई है।

चारों ओर गगनचुंबी जयघोष हुआ है। अब यही चादर नानालाल जी महाराज को ओढ़ाई जा रही है। चतुर्दिक उल्लास की लहरें उमड़ पड़ी हैं।

सब कुछ रोमांचक है। जय-जयकार अनुगुंजित है। नानालाल जी अब युवाचार्य पद पर आसीन हैं। आचार्य श्री/युवाचार्य श्री चादर की महिमा-गरिमा बता रहे हैं। युवाचार्य श्री कह रहे हैं - 'यह चादर नहीं है, गहन दायित्व है। मैं जैनधर्म को आलोकित करूंगा। उसका उज्ज्वल यश दिग्दिगन्त में व्याप्त होगा।'

जब नानालाल जी को चादर ओढ़ाई जा रही थी, तब दो आंखें ऐसी भी थीं, जो अपने बेटे को नखशिख निर्निमेष निहार रही थी। इन आंखों में जगदम्बा मरुदेवी से जगज्जननी त्रिशला तक का मातृत्व घनीभूत हुआ था। मां शृंगारबाई अब मात्र शृंगारबाई कहां थी - उनके भीतर, विजया, सेन्या, सिद्धार्था, सुमंगला, शिवादेवी, वामा, त्रिशला प्रायः सभी का मातृत्व और उनकी अपरम्पार वत्सलता जीवन्त हुई थी। मां की आंखों के मंच पर नाना के जन्म से अब तक के सारे दृश्य एक साथ उपथित हुए थे। पास-पड़ोस में बैठे लोगों ने सुना - 'मेरा नाना इतना बड़ा हो गया है। अरे, इसने तो चादर ओढ़ ली है!!! क्या यह सरल मन बालक युवाचार्य की गरिमा संभाल पाएगा? कहीं ऐसा न हो कि यह अपने भोलेपन में हार जाए?'

शृंगारबाई की आंखें आंचल बनी हैं। लग रहा है जैसे आंखों से होकर दूध की धवल धार पाटासीत युवाचार्य का अजस्र

अभिषेक कर रही है।

दांता से आकर भी इस क्षण वह दांता में ही है। वही घर, वही आंगन, वही 'नाना', वही किलकारियां, वही चहलकदमियां – बड़ा मर्मस्पर्शी दृश्य है।

समारोह सम्पन्न हुआ है। शृंगारबाई आचार्यश्री से उनकी सुखसाता पूछ रही है। आचार्यश्री कह रहे हैं – “कई मांजी, बेटा महाराज का दर्शन कर लीधा? अबे ई 'नाना' नाना नी रिया, घणां मोटा वेइग्या है।” (क्या मांजी, बेटा महाराज के दर्शन कर लिए? अब यह नाना छोटा नहीं रहा है, बहुत बड़ा हो गया है।) मां की ममता आंसू बनी कह रही है – ‘अन्नदाता, ई घणां भोला टाबर है, यां पे अतरो बोझो मती नाको।’ (प्रभो! यह बड़ा भोला बालक है। इस पर इतना वजन मत डालो।) फिर मां ने युवाचार्य को अपलक सजल आंखों से देखा है। वह निहाल हुई है। उसकी आंखों को नवनिधियां मिल गई हैं। भला उसे अब क्या करना चाहिए? वह अवाक् है और दोनों अंजलियों से खुशियों का दरिया अनथक उलीच रही है। उसने अपने बेटे की ओर मुड़कर देखा और बोली – ‘म्हारे धोरा दूध री अणी चादर में कालो दाग मत लगाइजो’ (बेटे! मेरे धवल-शुभ्र दूध की इस चादर पर कोई काला दाग मत आने देना)। और पता नहीं, कब/कैसे युवाचार्य के नेत्रों में कबीर का यह पद अक्षरशः निनादित हो उठा –

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बनी चदरिया ॥

सो चादर सुरनर मुनि ओढ़िन, ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया।

दास कबीर ♦ जतन से ओढ़िन, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया ॥

♦ हम चाहें तो दास कबीर की जगह 'नाना सुनी' या 'मैंने खूब' को रखकर इसका अलौकिक रसास्वाद ले सकते हैं।



4. हम स्वयं बनें अन्नदाता

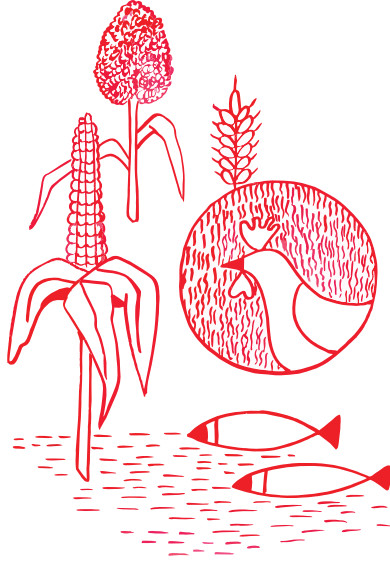
थांदला। मध्यप्रदेश का एक भिल्लग्राम। मिली-जुली बस्ती। युगपुरुष आचार्यवर जवाहरलाल जी का जन्मस्थल। 1963।

भीलों के जीवन को नई आशा और आलोक देने वाले मामा बालेश्वरदयाल आचार्यश्री से चर्चा कर रहे हैं। अन्न-समस्या का मुद्दा है। भारत विशाल है। यह विषमताओं में समता की धरती है। विषमताओं और विविधताओं ने भी इस अद्भुत-अपूर्व धरा को अभिमण्डित किया है। सब अलग, सब एक। अनेकता में एकता धड़कती है यहां प्रतिपल, प्रतिपग।

मामा कह रहे हैं – ‘आप मांसाहार का त्याग करते हैं। अहिंसा को आधार बना कर ऐसा करना उचित नहीं है। भारत एक गरीब देश है। मांसाहार छोड़कर तो वह कहीं का नहीं रहेगा। उसकी अर्थव्यवस्था चरमरा जाएगी।’

आचार्यश्री गंभीर हुए हैं। उन्होंने समस्या को गहराई में समझा है।

बोले – ‘आपका सोचना एकांगी है। आपकी यह धारणा भ्रान्त है कि मांसाहार से अन्न-समस्या हल हो सकती है। सोचिए, जिन पशुओं के वध से मांस प्राप्त होता है, उन पर कितना खर्च होता है? क्या अमीर देश आर्थिक लाभ के लिए लाखों टन अनाज



समुद्र में नहीं फैंक रहे हैं? क्या मांसाहार से सात्विक भावनाएं पैदा हो सकती हैं? इस समस्या के समाधान के लिए मैं आपको एक रचनात्मक/अहिंसक प्रयोग बताता हूँ। देश की वर्तमान आबादी चालीस-पचास करोड़ है, जिसमें दस-पन्द्रह करोड़ बच्चे हैं। इन्हें कम कर लीजिए। बाकी तीस-पैंतीस करोड़ बचे। इतनी आबादी के लिए एक दिन में पन्द्रह-बीस करोड़ टन अनाज चाहिए, यदि हम अपने देश को जगायें और उसे साप्ताहिक उपवास के लिए तैयार करें तो क्या अन्न-समस्या का समाधान नहीं होगा?’

मामा के गले बात उतर गई। उनका मन आचार्य श्री के चरणों में श्रद्धा से झुक गया। उल्लसित होकर उन्होंने आदिवासी भाई-बहिनों को आचार्यश्री का सान्निध्य दिया और भिल्ल-लोकजीवन को सात्विकता और व्यसन मुक्ति की दिशा में अग्रसर किया। हजारों भीलों ने व्यसन छोड़े और वे भारत की अहिंसक संस्कृति की मुख्य प्राणधारा में सम्मिलित हुए।



5. सुई की आंख में से निकल सकता है ऊँट

बदनावर से आगे कानवन। 1963।

आचार्य श्री के सामने मुनि अमरचंद जी खड़े हैं। उनसे किञ्चित् प्रमाद हुआ है। बोले - ‘आज सुबह एक श्रावक से सुई लाया था, जो धर्मस्थान में ही रह गई। लौटा नहीं पाया। हम लोग लगभग चार मील आगे आ गए हैं। आप आदेश दें - क्या करूं?’

आचार्यश्री ने तुरन्त कहा - ‘इसमें क्या सोचना है? किसी श्रावक को साथ लो और सुई ढूँढ कर लौटा दो। भगवान महावीर

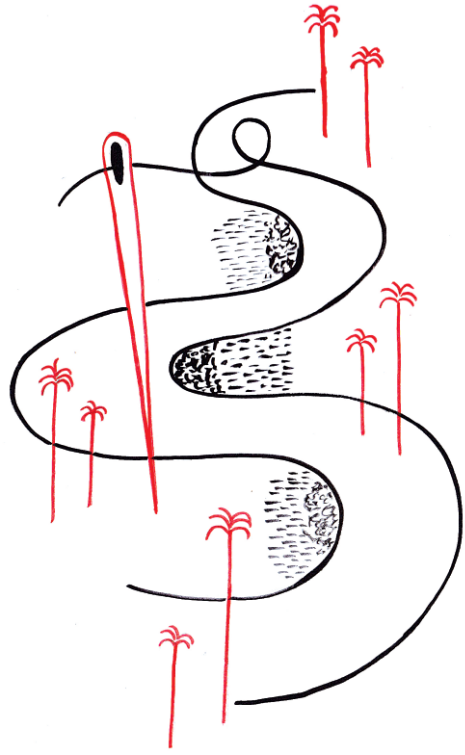
ने कहा है - समयं गोयम मा पमायए (गौतम एक समय ♦ का भी प्रमाद मत कर) ।’

उपस्थित श्रावकों ने निवेदन किया - ‘आप इन्हें आठ मील का चक्कर न दें। हम लोग दूर निकल आए हैं। वापस आकर हम सुई अवश्य लौटा देंगे।’ आचार्य ने हंसते हुए कहा - ‘आपकी भावना प्रशस्त है, किन्तु हमारा संयमी जीवन इसकी अनुमति नहीं देता। संयम की अपनी मर्यादाएं हैं। हम अपना काम खुद न करें, अन्यो से करवाएं, यह ठीक नहीं है। एक सामान्य शिथिलता, एक मामूली मर्यादा-भंग किसी भी समय बड़ा आकार ग्रहण कर सकता है। सुई तो अमरचंद जी को खुद ही लौटानी है। सुविधाएं दुविधाओं को जन्म देती हैं। जैन साधु सुविधाभोगी नहीं है। वह प्रतिपल अप्रमत्त-सजग है। अनुपल जागृत, अनुक्षण सावधान।’

जैसे ही अमरचंद जी ने सुना, वे चल दिए। सुई लौटाई और लौटकर संघ-विहार में सम्मिलित हो गए।

सूरज ने यह सब देखा। डूबने से पहले उसने आचार्य श्री की चरण-रज अपने माथे पर ली और साधु-संघ की साष्टांग वन्दना की तथा अमरचंद जी की तरह अस्तांचल की ओर अप्रमत्त मुड़ गया।

- ♦ मन्दगति से एक परमाणु की लोकाकाश-स्थित एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाने की अवधि।

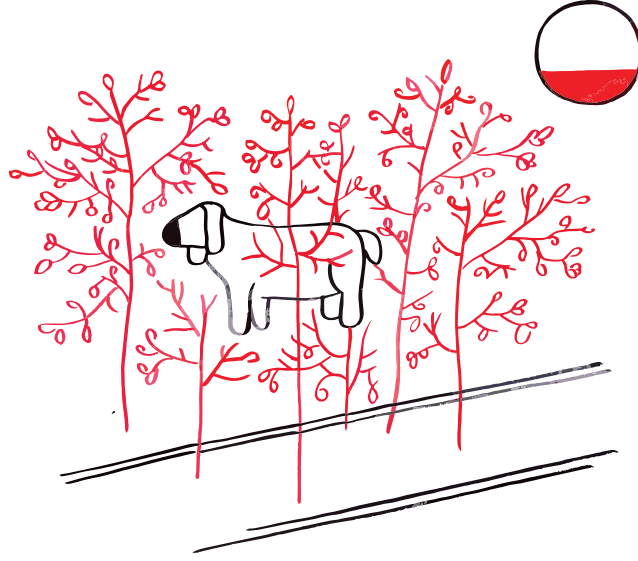


6. मेमने को मिला अभय

1948 ई.।

मेवाड़ का एक कस्बाई ग्राम बम्बोरा। शाम का समय। सूरज अभी अस्त नहीं हुआ है। झुटपुटा होने को है। आचार्य श्री पास की एक पहाड़ी पर शुद्धि के लिए गए हैं। निवृत्त होकर लौट रहे हैं। सजग, सावधान, अप्रमत्त। पास की झाड़ियों में कोई मेमना कराह रहा है। देखा तो पता चला कि वह एक किशोर मेमना है और सूखे नाले में गिर गया है। इधर-उधर आंखें दौड़ाई। सुनसान। सन्नाटा। कोई नहीं। पसोपेश। क्या करें, क्या न करें? यदि साधु-मर्यादा का पालन करते हैं तो मेमने की जान जाती है और नहीं करते हैं तो लोक-मर्यादा/आगम-मर्यादा टूटती है। किसी को लायें तब तक सूरज डूब जाएगा।

वे दो पल रुके।



तुरन्त निर्णय लिया कि अहिंसा का मार्ग ही सर्वोत्तम है। करुणा के जल ने उनके मन-मानस को अभिषिक्त किया और उन्होंने मेमने को सहारा दिया।

उस समय मेमने की आंखों में कृतज्ञता की जो दीप्ति थी, वह देखने जैसी थी। लगा जैसे किसी ईसा ने मेमने को सहारा देकर मानवता को करुणा का संदेश दिया है। लगा जैसे किसी सुकरात ने विषपान किया है।

गांववालों को पूरी घटना सुनाई। सब रोमांचित। सब गद्गद्। उन्हें अहिंसा की नई इबारत मिल गई। उन्हें लगा - साधु हो या गृहस्थ, आत्मा की पुकार सबसे पहले। जीव-रक्षा सर्वप्रथम। चाहे जो हो, यदि दुनिया की कोई धड़कन खिन्न-विपन्न है तो हमारा कर्तव्य है कि हम हर काम छोड़कर पहले प्राण-रक्षा के लिए दौड़ें। ऐसा करने के लिए हमें जो भी त्याग करना पड़े, करें। रुढ़ियों के दास न बनें। वरन् औचित्य और सम्यक्त्व को देखें तथा रुढ़ियों को अपना दास बनाएं।



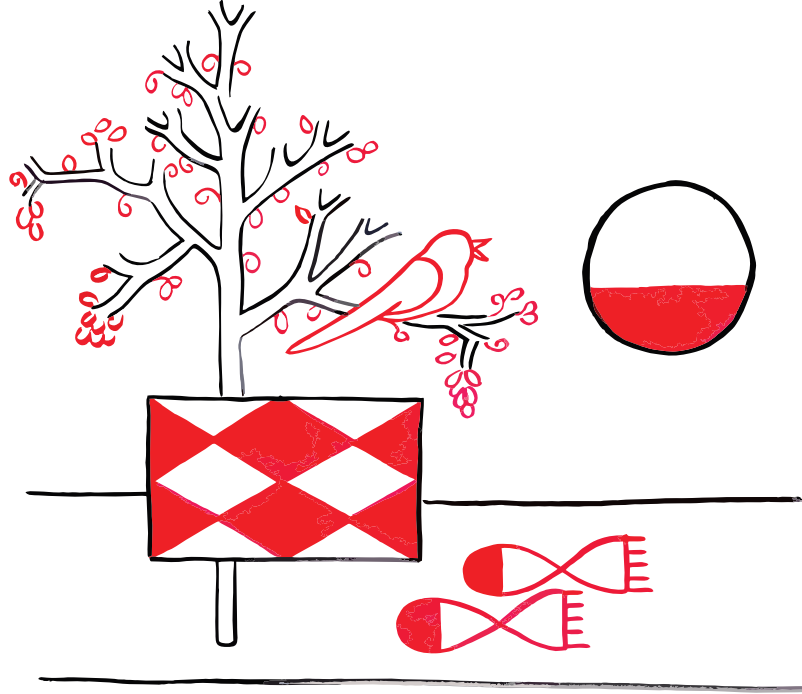
7. लोहे की लकीर

1963 ई.।

उदयपुर। मंगल विहार के पूर्व क्षण।

आचार्य पद पर आसीन होने के बाद नानालाल जी महाराज ने उदयपुर से विहार करना चाहा।

प्राची में सूरज अभी कुछ ऊपर उठा ही था कि आचार्य श्री विहार के निमित्त निकल पड़े। इधर सूरज अपने पांव तेजी से उठा



रहा था, उधर आचार्य श्री ससंघ। दोनों में होड़ थी। आचार्यवर तैयार हुए ही थे कि श्रावकों ने कहा - 'महाराज, आप जिस दिशा की ओर कदम उठा रहे हैं, उस ओर दिशाशूल है। कोई भी संकट आ सकता है। असल में मुहूर्त उपयुक्त नहीं है।'

आचार्यश्री का मन-मानस आरम्भ से ही रुढ़िमुक्त रहा है। उन्होंने अंधविश्वास को कभी माना ही नहीं। वे कहा करते - 'भला होनी को कौन टाल सकता है। साधु-साधु है। वह निष्काम है। उसे लौकिक कुछ करना नहीं है। दिव्यताओं के लिए किस मुहूर्त की जरूरत है।' बोले - 'मैं आपकी शुभकामनाओं का सम्मान करता हूँ। आपके आग्रह का ध्यान रखकर मैं अपना कार्यक्रम बदल भी देता; किन्तु मैं अपनी साधु-भाषा में आश्वासन दे चुका हूँ, अतः बाध्य हूँ। समझ लीजिए, साधु-भाषा लोहे की लकीर होती है। वह जल या रेत की लकीर नहीं है कि जिसे हवा का कोई झोंका मिटा दे। वह अटल-अविचल मार्ग है। एक बार हमारे मुख से जो भी निकल गया, उसे हमें करना ही है।'

ज्योतिषी ने समीक्षा की। तर्क दिए। बहुत प्रयत्न किए; किन्तु आचार्यवर अडिग बने रहे। बोले - 'मेरे लिए सब अच्छा है। कोई रास्ता नहीं बदलना। वही पथ, वही पग, वही पथिक।' और वे वेग से चल दिए।

कोई विघ्न नहीं, कोई संकट नहीं, कोई विपदा नहीं। सबकुछ स्निग्ध, सानन्द, निष्कण्टक, निरापद।





चातुर्मास



रतलाम 1963। लगभग 1500 बलाई कुटुम्ब के करीब 10,000 व्यक्तियों के जीवन में सामायिक क्रान्ति की प्रखर किरण का प्रवेश, हृदय परिवर्तन की जीवन्त मिसाल। आचार्य श्री ने कहा - 'आप मांस, मदिरा, शिकार, वैश्या-गमन, आत्महत्या आदि दुर्व्यसनों का प्राणपण से पूर्णरूपेण त्याग करें तो उन्नति हो सकती है, बलाई जैन बने और उन्होंने उपदेश मान कर प्रगति की। आज उनकी संख्या लगभग एक लाख है। सब समृद्ध और सुखी हैं।

चातुर्मास*

कुल : 53

साधु कालीन : 23

आचार्य पदोपरान्त : 30

साधुकाल के चातुर्मास

राजस्थान : 19	दिल्ली : 2	मध्यप्रदेश : 2	प्रथम : फलौदी (राजस्थान)	तेईसवां : उदयपुर (राजस्थान)
1.			फलौदी (राजस्थान)	1940 ई./वि.सं. 1997
2.			बीकानेर (राजस्थान)	1941 ई./वि.सं. 1998
3.			ब्यावर (राजस्थान)	1942 ई./वि.सं. 1999
4.			बीकानेर (राजस्थान)	1943 ई./वि.सं. 2000
5.			सरदारशहर (राजस्थान)	1944 ई./वि.सं. 2001
6.			बगड़ी (राजस्थान)	1945 ई./वि.सं. 2002
7.			ब्यावर (राजस्थान)	1946 ई./वि.सं. 2003
8.			बड़ी सादड़ी (राजस्थान)	1947 ई./वि.सं. 2004
9.			रतलाम (मध्यप्रदेश)	1948 ई./वि.सं. 2005
10.			जयपुर (राजस्थान)	1949 ई./वि.सं. 2006
11.	दिल्ली			1950 ई./वि.सं. 2007
12.	दिल्ली			1951 ई./वि.सं. 2008
13.			उदयपुर (राजस्थान)	1952 ई./वि.सं. 2009
14.			जोधपुर (राजस्थान)	1953 ई./वि.सं. 2010
15.			कुचेरा (राजस्थान)	1954 ई./वि.सं. 2011
16.			बीकानेर (राजस्थान)	1955 ई./वि.सं. 2012
17.			गोगोलाव (राजस्थान)	1956 ई./वि.सं. 2013
18.			कानोड़ (राजस्थान)	1957 ई./वि.सं. 2014
19.			जावरा (मध्यप्रदेश)	1958 ई./वि.सं. 2015
20.			उदयपुर (राजस्थान)	1959 ई./वि.सं. 2016
21.			उदयपुर (राजस्थान)	1960 ई./वि.सं. 2017
22.			उदयपुर (राजस्थान)	1961 ई./वि.सं. 2018
23.			उदयपुर (राजस्थान)	1962 ई./वि.सं. 2019

चातुर्मास*

1963ई. - 1992 ई.

राजस्थान : 16	मध्यप्रदेश : 8	महाराष्ट्र : 4	गुजरात : 2	प्रथम : रतलाम (मप्र)	तीसवां : उदयरामसर (राज.)
1.	रतलाम (मध्यप्रदेश)			1963 ई./वि.सं. 2020	
2.	इन्दौर (मध्यप्रदेश)			1964 ई./वि.सं. 2021	
3.	रायपुर (मध्यप्रदेश) (वर्तमान में छत्तीसगढ़)			1965 ई./वि.सं. 2022	
4.	राजनादगांव (मध्यप्रदेश) (वर्तमान में छत्तीसगढ़)			1966 ई./वि.सं. 2023	
5.	दुर्ग (मध्यप्रदेश) (वर्तमान में छत्तीसगढ़)			1967 ई./वि.सं. 2024	
6.	अमरावती (महाराष्ट्र)			1968 ई./वि.सं. 2025	
7.	मन्दसौर (मध्यप्रदेश)			1969 ई./वि.सं. 2026	
8.	बड़ी सादड़ी (राजस्थान)			1970 ई./वि.सं. 2027	
9.	ब्यावर (राजस्थान)			1971 ई./वि.सं. 2028	
10.	जयपुर (राजस्थान)			1972 ई./वि.सं. 2029	
11.	बीकानेर (राजस्थान)			1973 ई./वि.सं. 2030	
12.	सरदारशहर (राजस्थान)			1974 ई./वि.सं. 2031	
13.	देशनोक (राजस्थान)			1975 ई./वि.सं. 2032	
14.	नोखामण्डी (राजस्थान)			1976 ई./वि.सं. 2033	
15.	गंगाशहर-भीनासर (राजस्थान)			1977 ई./वि.सं. 2034	
16.	जोधपुर (राजस्थान)			1978 ई./वि.सं. 2035	
17.	अजमेर (राजस्थान)			1979 ई./वि.सं. 2036	
18.	राणावास (राजस्थान)			1980 ई./वि.सं. 2037	
19.	उदयपुर (राजस्थान)			1981 ई./वि.सं. 2038	
20.	अहमदाबाद (गुजरात)			1982 ई./वि.सं. 2039	
21.	भावनगर (गुजरात)			1983 ई./वि.सं. 2040	
22.	बोरीवली-बम्बई (महाराष्ट्र)			1984 ई./वि.सं. 2041	
23.	घाटकोपर-बम्बई (महाराष्ट्र)			1985 ई./वि.सं. 2042	
24.	जलगांव (महाराष्ट्र)			1986 ई./वि.सं. 2043	
25.	इन्दौर (मध्यप्रदेश)			1987 ई./वि.सं. 2044	
26.	रतलाम (मध्यप्रदेश)			1988 ई./वि.सं. 2045	
27.	कानोड़ (राजस्थान)			1989 ई./वि.सं. 2046	
28.	चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)			1990 ई./वि.सं. 2047	
29.	पिपलिया कलां (राजस्थान)			1991 ई./वि.सं. 2048	
30.	उदयरामसर (राजस्थान)			1992 ई./वि.सं. 2049	

* आचार्य-पदोपरानत सम्पन्न चातुर्मास

चातुर्मासिक उपलब्धियां *

(1940-1992)

(* चातुर्मास के पूर्व एवं पश्चात् की उपलब्धियां भी यहां संकलित हैं)

ॐ एक ॐ

फलौदी : 1940; साधु जीवन का प्रथम वर्षायोग; तितिक्षा/क्षमाशीलता का सघन अभ्यास; संयम-साधना; अप्रमत्त स्वाध्याय; अ-क्रोध तप ।

ॐ दो ॐ

बीकानेर : 1941; आत्म शोधन; सेवा, ज्ञान, स्वास्थ्य की साधना; वयोवृद्ध संतों की सेवा-परिचर्या; शरीर गौण, साधना मुख्य; धृति, विनयशीलता और सहिष्णुता की मौन उपासना ।

ॐ तीन ॐ

ब्यावर : 1942; अध्ययन के साथ प्रवचन; दृढ़ता और अविचलता का विकास ।

ॐ चार ॐ

बीकानेर : 1943; 'सिद्धान्त कौमुदी' का अध्ययन; प्रज्ञ/मनीषी संतों का सत्संग ।

ॐ पांच ॐ

सरदारशहर : 1944; सिद्धान्त और आचरण की दूरियां अनवरत कम ।

ॐ छह ॐ

बगड़ी : 1945; कथनी-करनी में एकरूपता का विलक्षण विकास ।

ॐ सात ॐ

ब्यावर : 1946; गुरु-सेवा; अध्ययन; साधना ।

ॐ आठ ॐ

बड़ी सादड़ी : 1947; गुरु-सेवा; संयम; स्वाध्याय; संत-सत्संग ।

ॐ नौ ॐ

रतलाम : 1948; साधु-मर्यादा कसौटी पर; चातुर्मास-समाप्ति पर इन्दौर में सर्वोदयी संत विनोबा भावे से भेंट; विनोबाजी ने कहा - "आप सोचते होंगे कि जैनियों की संख्या बहुत कम है, किन्तु मेरी धारणा के अनुसार 'जैन' नाम धराने वालों की संख्या भले ही कम हो, लेकिन जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त दूध-मिश्री की तरह दुनिया की सभी विचार धाराओं में घुलते जा रहे हैं ।"

ॐ दस ॐ

जयपुर : 1949; न्याय (तर्कशास्त्र) का अध्ययन; सिद्धान्त और व्यवहार में दृढ़ता; मूर्च्छा की उत्तरोत्तर अनुपस्थिति; जयपुर-हिण्डौन मार्ग पर करौली के आस-पास 'धर्मपाल-प्रवृत्ति' का बीजांकुरण।

ॐ ग्यारह ॐ

दिल्ली : 1950; गुरुदेव का सघन सान्निध्य; रुग्णता; जिह्वाजय।

ॐ बारह ॐ

दिल्ली : 1951; घाणोराव/सादड़ी में साधु-सम्मेलन का सूत्र-संचालन; सब्जी मण्डी में वर्षावास; पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ।

ॐ तेरह ॐ

उदयपुर : 1952; इंजेक्शन लगाना सीखा ताकि संकटापन्न स्थिति में गुरुदेव की परिचर्या में कोई कमी न हो; गुरुदेव का अम्लान वैयावृत्य।

ॐ चौदह ॐ

जोधपुर : 1953; गुरु-सेवा; अम्लान सेवासुश्रूषा; अनन्य निष्ठा; अविचल आस्था; ज्ञान-ध्यान।

ॐ पन्द्रह ॐ

कुचेरा : 1954; गुरुदेव को सहयोग।

ॐ सोलह ॐ

बीकानेर : 1955; आचार्यश्री की सेवा-सुश्रूषा।

ॐ सत्रह ॐ

गोगोलाव : 1956; गुरुदेव का सान्निध्य; उनकी सन्निष्ठ सेवा; स्वाध्याय।

ॐ अठारह ॐ

कानोड़ : 1957; गुरुदेव को सहयोग; सेवा-सुश्रूषा; साधना; अध्ययन।

ॐ उन्नीस ॐ

जावरा : 1958; गुरुदेव का सान्निध्य; उनकी अनन्य सुश्रूषा; स्वाध्याय।

ॐ बीस ॐ

उदयपुर : 1959; निष्काम चित्त से गुरु का वैयावृत्य; अहर्निश जागृत साधना।

ॐ इक्कीस ॐ

उदयपुर : 1960; गुरु की सेवा-सुश्रूषा; संयम-साधना; स्वाध्याय; मनन-चिन्तन।

ॐ बाईस ॐ

उदयपुर : 1961; गुरुदेव द्वारा चतुर्विध संघ की सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व प्रदान, 18 अप्रैल 1961/अक्षय तृतीया को सार्वजनिक घोषणा; निष्काम मनीषा और अविचल आस्था के धनी पर श्रमण-संस्कृति की रक्षा और उसके अभिभावन की गहन जिम्मेवारी; समय साधना के साथ सामाजिक का मौन उद्भव।

ॐ तेईस ॐ

उदयपुर : 1962; आचार्य श्री हुक्मीचन्द जी की पाट-परम्परा का पुनरुज्जीवन; 22 सितम्बर 1962 को 'युवाचार्य' घोषित; 30 सितम्बर को युवाचार्य पद की चादर से अलंकृत; चादर प्रदान समारोह में पूज्या माता श्रीमती शृंगारी बाई की रोमांचक उपस्थिति; उनका यह अजर-अमर वाक्य - 'अन्नदाता! ई घणां भोला टाबर है, यां पर अतरो बोझो मती नाको' (प्रभो! यह बहुत भोला-भाला लड़का है, इस पर इतनी बड़ी जिम्मेवारी न डालिये)।

चादर की गौरव-गरिमा को स्पष्ट करते हुए युवाचार्य ने कहा - यह चादर एक शुभ भावना का प्रतीक है। शुभ भावनाएं उज्ज्वल होती हैं और यह चादर भी उज्ज्वल/खादी की होकर सादी है। सादगी स्वतन्त्रता की द्योतक है। पूज्य गुरुदेव फरमाया करते हैं कि सादगी स्वतन्त्रता है और फैशन फांसी; अतः भारत को इस सादगी की ओर विशिष्ट ध्यान देना चाहिए; विलक्षण नाड़ी-ज्ञान; 9 जनवरी 1963 को गुरुदेव की नाड़ी में आशंकित परिवर्तन; संधारा पच्चखान का आयोजन; आचार्य श्री गणेशीलाल जी का महाप्रयाण; 'आचार्य-पद' पर प्रतिष्ठित; प्रथम शिष्य सेवन्तमुनि जी; अन्धविश्वास की मिथ्या/अंधी परम्पराओं का उन्मूलन।

ॐ चौबीस ॐ

रतलाम : 1963; जावद, जावरा और रतलाम संघों के बीच समरस संबंधों की स्थापना; स्वरूप-बोध के प्रति विशेष जागृति; सीताराम जी बलाई से भेंट; 'धर्मपाल-प्रवृत्ति' का श्रीगणेश; गुजराती बलाईयों के छोटे-छोटे गांवों में सघन विहार; लगभग 1,500 बलाई-कुटुम्बों के लगभग 10,000 व्यक्तियों के जीवन में सामाजिक क्रान्ति की प्रखर किरण का प्रवेश, हृदय-परिवर्तन की जीवन्त मिसाल; आचार्यश्री ने कहा - 'आप मांस, मदिरा, शिकार, वेश्यागमन, आत्महत्या आदि दुर्व्यसनों का प्राणपण से पूर्णरूपेण त्याग करें तो उन्नति हो सकती है', बलाई जैन बने और उन्होंने उनका उपदेश मान कर प्रगति की; आज उनकी संख्या लगभग एक लाख है; सब सुसमृद्ध और प्रसन्न हैं।

ॐ पच्चीस ॐ

इन्दौर : 1964; रचनात्मक/अहिंसक क्रान्ति के प्रवर्तक संत का अभिनव रूप; अविस्मरणीय वाक्य-मणि - 'किसी भी बात को हमें मान-सम्मान का विषय नहीं बनाना चाहिए।'

ॐ छब्बीस ॐ

रायपुर : 1965; आध्यात्मिक उत्क्रान्ति और आत्म-शोधन का चातुर्मास।

ॐ सत्ताईस ॐ

राजनांदगांव : 1966; पांच मास का चातुर्मास; आत्म-शोधन; सामाजिक क्रान्ति का सातत्य; 'तीर्थ' शब्द की तर्कसंगत व्याख्या; कहा - 'असली तीर्थ चार हैं - साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका।'

ॐ अट्ठाईस ॐ

दुर्ग : 1967; श्रावकीय जिज्ञासाओं के सटीक समाधान; आत्म-जागृति; सामाजिक क्रान्ति की निरन्तरता कायम।

ॐ उन्तीस ॐ

अमरावती : 1968; सम्यक्त्व-प्रतिपादन; 'उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य' विषय पर गूढ़ प्रवचन।

ॐ तीस ॐ

मन्दसौर : 1969; सद्भावना का प्रसार; नये परिवेश का सृजन।

ॐ इकतीस ॐ

बड़ी सादड़ी : 1970; दीक्षाएं; व्यसन-मुक्ति; सामाजिक क्रान्ति की उन्तीस प्रतिज्ञाओं के अमल के लिए सत्रह गांवों के प्रतिनिधियों का चयन।

महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञाएं हैं क्र. 2, 4, 5, 13 और 17; विवाह में कोई सौदेबाजी नहीं होगी, मृत्यु के बाद एक मास से अधिक शोक नहीं रखा जाएगा, धर्मस्थान में सादा वेशभूषा में जाएंगे - प्रवचन में मौन रखेंगे, विवाह आदि अवसरों पर बैँड-बाजा आदि पर अनावश्यक खर्च नहीं करेंगे, आध्यात्मिक आहार हेतु धार्मिक पुस्तकों का यथाशक्ति पठन-पाठन करेंगे।

ॐ बत्तीस ॐ

ब्यावर : 1971; विघटन समाप्त, एकता स्थापित; 'ध्वनि विस्तारक यन्त्र' के बारे में विज्ञान के ठोस संदर्भों में जानकारी; भौतिकी के प्रख्यात विद्वान डॉ. दौलतसिंह कोठारी की सहमति; अपने निश्चय पर बरकरार।

ॐ तैंतीस ॐ

जयपुर : 1972; समता-दर्शन का शंखनाद।

ॐ चौतीस ॐ

बीकानेर : 1973; आध्यात्मिक क्रान्ति का पुनरीक्षण; आत्म-शोधन; मुमुक्षुओं को दिशादृष्टि।

ॐ पैंतीस ॐ

सरदारशहर : 1974; एकता की ओर नया कदम; कहा - 'अगर संवत्सरी मनाने के बारे में सम्पूर्ण जैन समाज का एक मत बन सके तो बड़ी उपलब्धि हो सकेगी, सांवत्सरिक एकता की दृष्टि से अगर हमें अपनी परम्परा भी छोड़नी पड़े तो मैं किसी पूर्वग्रह को आड़े नहीं आने दूंगा।'

~~* छत्तीस *~*~*

देशनोक : 1975; बुद्धिजीवियों को प्रेरणा और दिशा दर्शन; आचार-विचार में धर्ममय परिवर्तन की रचनात्मक पहल।

~~* सैंतीस *~*~*

नोखा मण्डी : 1976; शारीरिक अस्वस्थता; प्राकृतिक उपचार; समता दर्शन की व्याख्या; भोपालगढ़ में आचार्य श्री हस्तीमल जी से ऐतिहासिक मिलन।

~~* अड़तीस *~*~*

गंगाशहर-भीनासर : 1977; दीक्षाएं; धर्मोपकार के कार्य।

~~* उनचालीस *~*~*

जोधपुर : 1978; नगर-प्रवेश से पूर्व उपनगर सरदारपुर में पंचसूत्री उपदेश; जन-जागृति और सामाजिक क्रान्ति के लिए रचनात्मक दृष्टिकोण की प्रस्तुति; पांच सूत्र - समानता में आस्था, गुण-कर्म आधारित वर्गीकरण में भरोसा, व्यक्तिगत जीवन-शुद्धि का अभ्यास, गरीब-अमीर की विभाजक सामाजिक कुरीतियों का परित्याग; नियमित दिनचर्या-पूर्वक समता-भाव की साधना।

~~* चालीस *~*~*

अजमेर : 1979; धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक उत्क्रान्ति की ठोस पहल; अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष के उपलक्ष्य में बाल-शिक्षा पर अखिल भारतीय संगोष्ठी; लेखक भी सम्मिलित।

~~* इकतालीस *~*~*

राणावास : 1980; आध्यात्मिकता का नवप्रस्फुटन; चिन्तन के नौ सूत्रों का प्रवर्तन; सूत्र हैं - चैतन्य चिन्तन - यह कि 'कौन हूं, कहां से हूं, किसलिए हूं, क्या कर रहा हूं'; मैं ज्ञाता-दृष्टा हूं; दुर्लभ मानव-देह का लक्ष्य क्या है; समभाव का चिन्तन; अमानवीय भाव और कटु वचनों का त्याग; विभाव-त्याग; स्वभाव-बोध; सुदेव, सुगुरु, सुधर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और स्याद्वाद आत्मोन्नति के मूल हैं; स्व-रूप की पहचान; सम्यक् विधि से जीवन की उन्नति।

~~* बयालीस *~*~*

उदयपुर : 1981; जन्मभूमि दांता में आगमन; ज्ञान-साधना/तपाराधना; समीक्षण-ध्यान के प्रायोगिक पक्ष का विकास; त्रिमुखीन अभियान की प्रेरणा - 1. ब्रह्मचर्यव्रत - अभियान; 2. दहेज उन्मूलन अभियान; 3. आदिवासी जागरण तथा दुर्व्यसन मुक्ति अभियान; आगम, अहिंसा, समता एवं प्राकृत संस्थान की स्थापना।

~~* तैंतालीस *~*~*

अहमदाबाद : 1982; गुजराती संप्रदायों के आचार्य/संत-सती से मिलन, श्रावकों द्वारा छहसूत्री योजना की प्रस्तुति; समीक्षण-ध्यान पर प्रवचन लगभग 7 पुस्तकें गुजराती भाषा में प्रकाशित, ये हैं - समता दर्शन और व्यवहार, समीक्षण और ध्यान; प्रयोग-विधि, साधना के सूत्र, आचार्य नानेश : एक परिचय, समता क्रान्ति, ऊँडाण ना हस्ताक्षर (गहरी पतं के हस्ताक्षर), आचार्य श्री नानेश : गुजरात प्रवास एक झलक।

ॐ चवालीस ॐ

भावनगर : 1983; अनुशासन की प्रेरणा, धर्मोत्साह, तपाराधना; कृष्णकुमार सोसायटी और मेहताशेरी के संघों के मनोमालिन्य की समाप्ति; त्याग-तपस्या में वृद्धि; आगमिक विषयों पर सारपूर्ण प्रवचन।

ॐ पैतालीस ॐ

बोरीवली-बम्बई : 1984; उपनगरों में सतत् प्रभावी विहार; विश्व शान्ति, धर्म का सही स्वरूप, श्रमण-संस्कृति की सुदृढ़ सुरक्षा आदि विषयों पर प्रवचन; राणावास-वर्षावास (1980) से पूर्व बिठोड़ा ग्राम से प्रारम्भ 'जिणधम्मो' की सम्पूर्ति - इन्दौर से प्रकाशन; स्वाध्याय को शाबाशी।

ॐ छियालीस ॐ

घाटकोपर-बम्बई : 1985; सिद्धान्तनिष्ठ, मौलिक, यथार्थपरक आध्यात्मिक/धार्मिक विषयों की गूढ़ विवेचना, निर्ग्रन्थ श्रमण-संस्कृति को गहरी नीव देने का प्रयत्न; लाउडस्पीकर के विवादास्पद विषय पर मौलिक/युक्तियुक्त विचार।

ॐ सैंतालीस ॐ

जलगांव : 1986; संस्कार-क्रान्ति अभियान की प्राथमिक तैयारी; स्वाध्याय, तपाराधना।

ॐ अड़तालीस ॐ

इन्दौर : 1987; संस्कार-क्रान्ति अभियान का सफल सूत्रपात; चातुर्मास को सत्रह हफ्तों (जुलाई से नवम्बर) में बांट कर संस्कार-क्रान्ति के बहुविध पक्षों पर प्रवचन; अभियान के सूत्र - महामंत्र नमस्कार, भाषा-विवेक, कर्तव्य-पालन, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, पर्यावरण-सुरक्षा, सुसंस्कार-धन, सौन्दर्य और सुरूपता, रक्त रंजित सौन्दर्य-प्रसाधन; गर्भपात-महापाप, कषाय-विसर्जन, प्रत्याख्यान, आत्म-शुचिता, दान का व्यावसायिकरण, विषमता/कुरीतियां, सामायिक, आतिशबाजी, समता-समाज-रचना; 'तीर्थकर' के 'साधुमार्ग' विशेषांक का प्रकाशन।

ॐ उनचास ॐ

रतलाम : 1988; संस्कार-क्रान्ति अग्रसर; दीक्षाएं; तपाराधना; ज्ञान-ध्यान।

ॐ पचास ॐ

कानोड़ : 1989; बुद्धिजीवियों को संस्कार-क्रान्ति की प्रेरणा; 'आगम पुरुष' की परिकल्पना; शाकाहार-अभियान; संस्कार क्रान्ति पुरस्सर।

ॐ इक्यावन ॐ

चित्तौड़गढ़ : 1990; संस्कार-क्रान्ति पुरश्चरित; ज्ञान-साधना; तपाराधना।

ॐ बावन ॐ

पिपलिया कलां : 1991; जैन तत्त्व-ज्ञान स्नातक शिविर; समीक्षण ध्यान के प्रयोग; व्यसन मुक्ति अभियान में तेजी, बहुविध

धार्मिक/सामाजिक विषयों पर प्रवचन; स्मरणीय वाक्य - 'क्षणभंगुर शरीर को गौर करें। शरीर पोशाक है, जिसके फटने या जीर्ण होने पर संताप कैसा? पोशाक पर क्यों रोयें? रूढ़ियों से हटें। आत्मोन्मुख बनें। परिवर्तन का स्वागत करें।'

❁❁❁ तिरपन ❁❁❁

उदयरामसर : 1992; 'आगम पुरुष' का लोकार्पण; वर्षावास जारी।

❁❁❁❁❁❁

♦ 'आगम-पुरुष' के आवरण-पृष्ठ का प्रेरणा-वाक्य यही है। इसी की भावना को इसमें प्रतिबिम्बित किया गया है।



बातचीत



पिपलिया कलां (राजस्थान) - 11 नवम्बर, 1991

(प्रातः 8.30 - 9.30)

इधर के वर्षों में राजनेताओं ने कई गलतियां की हैं। अपनी कुर्सियां सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने बुराइयों को बढ़ावा दिया है, पश्चिम की नकल की है। जिसके दुष्परिणाम सामने आये हैं। अध्यापक आज भी एक विश्वसनीय इकाई है।

महाप्राण साधना में निमग्न हूँ

नेमीचन्द्र जैन : क्या 1940 ई. के बाद देश/समाज के वातावरण में कोई परिवर्तन आया है?

आचार्य नानालाल जी : मानसिकता दूषित हुई है। इसे स्वस्थ/संतुलित किया जाना चाहिए।

नेमीचन्द्र जैन : आपने अपने भीतर कोई परिवर्तन महसूस किया है?

आचार्य नानालाल जी : परिवर्तन हुआ है। तीव्रताएं बनी हैं। उदासीनता समृद्ध हुई है। मुझे लगा है कि हम व्यक्ति को मृत्यु भय की अपेक्षा संयम की ओर लायें। मृत्यु तो आयेगी ही, उससे क्यों डरें? प्राण-चिन्तन करें। वचन-बल पर ध्यान दें। शब्द-वर्गणाएं पूरे विश्व में व्याप्त हैं। प्राण विलक्षण अस्तित्व है। मैं इन दिनों महाप्राण की साधना पर केन्द्रित हूँ। इसे अधिकांश समय देता हूँ। व्यवधान आते हैं - सामाजिक, संघगत। फिलहाल अंतरंग की तीव्रता है, निश्चयात्मकता नहीं बनी है।

नेमीचन्द्र जैन : व्यवधान किस तरह के होते हैं?

आचार्य नानालाल जी : संघगत व्यवधान, पत्र-व्यवहार, विनतियां आदि।

नेमीचन्द्र जैन : इस समय प्रमुख लक्ष्य क्या है?

आचार्य नानालाल जी : आत्मा के 'अत्यन्त विकास' की यात्रा। प्राण-साधना। छह घंटे सोता हूँ। शेष तीव्र जागृति में बीतते हैं। पुरुषार्थ किए बिना कुछ नहीं मिलता। अपूर्णताएं/अपरिपक्वताएं सबमें हैं, जिन्हें समता-दर्शन और समीक्षण ध्यान से दूर किया जा सकता है।

नेमीचन्द्र जैन : क्या इस बीच कोई आशाजनक सामाजिक परिवर्तन हुआ है?

आचार्य नानालाल जी : अवरोध है, निराशाएं बढ़ी हैं, किन्तु समाज अब व्यक्ति को पहचानने लगा है। लोगों में जिज्ञासाएं हैं, किन्तु उनके पास कोई सक्षम सम्बल नहीं है। ज्यादातर लोग कुण्ठित दिख रहे हैं। यदि हमने

सामाजिक कुण्ठाओं का कोई तर्कसंगत मनोवैज्ञानिक तरीका नहीं ढूँढा, तो ये बढ़ती जाएंगी।

नेमीचन्द्र जैन : मुख्य समस्या क्या है?

आचार्य नानालाल जी : प्रश्न तो बहुत सारे हैं, किन्तु डॉक्टर साहब, उत्तरदाता नहीं हैं।

नेमीचन्द्र जैन : उत्तरदाताओं की संख्या बढ़ाइये!

आचार्य नानालाल जी : इन वर्षों में पन्द्रह-बीस लोग आए। सब सन्तुष्ट लौटे। कुछ भ्रान्तियाँ हैं, जिनके कारण लोग सही व्यक्ति (उत्तरदाता) तक अपनी पहुँच नहीं बना पा रहे हैं।

नेमीचन्द्र जैन : साधु वर्ग में आप कैसे परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं?

आचार्य नानालाल जी : यही कि वे अपनी चर्या-लक्ष्य में अविचल बनें। अपरिपक्व दीक्षाएं बंद हों। स्वाध्याय की वृत्ति बढ़े।

नेमीचन्द्र जैन : पतनोन्मुख आहार-विवेक के बारे में आप क्या सोचते हैं?

आचार्य नानालाल जी : आहार निर्दोष/शुद्ध होना चाहिए। इस बारे में गृहस्थ को जागृत करना होगा। गांवों में भी काम करने की गुंजाइश है। आदिवासियों और छात्रों में व्यसन-मुक्ति-अभियान को अच्छी सफलता मिल सकती है। इसके दूरगामी परिणाम निकलेंगे। जो भी हम करें, अहिंसा उसकी नींव में हो, इसका ध्यान रखें।

नेमीचन्द्र जैन : राजनीति के बारे में आप क्या सोचते हैं?

आचार्य नानालाल जी : इधर के वर्षों में राजनेताओं ने कई गलतियाँ की हैं। अपनी कुर्सियाँ सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने बुराइयों को बढ़ावा दिया है, पश्चिम की नकल की है - जिसके दुष्परिणाम सामने आये हैं। टीवी ने भी हमें गिराया है। यदि हम अध्यापक को सक्रिय कर सकें तो अभी भी कुछ किया जा सकता है। अध्यापक आज भी एक विश्वसनीय इकाई है।

नेमीचन्द्र जैन : जैन समाज को समन्वित कैसे किया जाए?

आचार्य नानालाल जी : यदि अध्यात्म को आधार बनाएंगे, तो काम आसान हो जाएगा।

नेमीचन्द्र जैन : क्या जैनधर्म की वैज्ञानिकता को स्पष्ट करने के लिए कोई योजना बनाई जानी चाहिए?

आचार्य नानालाल जी : क्यों नहीं? परमाणु-विज्ञान का क्षेत्र सामने है। जैन साहित्य में इस विषय पर विपुल सामग्री है। आहार-विज्ञान को लेकर हम साधन-सम्पन्न प्रयोगशालाएं स्थापित कर सकते हैं। तथ्यों की विश्वसनीयता के लिए प्रामाणिकता आवश्यक है, जो अध्ययन/अनुसंधान से ही संभव है।





प्रवचन



समता-दर्शन : समीक्षण-ध्यान : पर्यावरण

मनुष्य चिन्तन और विवेकशील प्राणी है। वह प्रगति भी करता है, विगति भी; किन्तु यह सत्य है कि वह गतिवान है। इसी गतिचक्र में परिप्रेक्ष्य बदलते रहते हैं।

समता-दर्शन

तकली से सूत काता जाता है और कते हुए सूत से वस्त्र बनाकर तन ढका जाता है, लेकिन अगर कोई दुष्ट प्रवृत्ति का मनुष्य तकली से सूत न कात कर उसे किसी भी आंख में घोंप दे तो क्या हम इसे तकली का दोष मानेंगे? समता दर्शन ऐसी तमाम विषमताओं तथा अतियों के बीच का एक ऐसा मार्ग है, जो आज के संतप्त मनुष्य को शान्ति, सौख्य, मैत्री और आत्मोन्नयन की मंगलकारी दिशा में ले जाता है।

समता, साम्य या समानता मानव-जीवन एवं मानव समाज के शाश्वत दर्शन है। आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, सामाजिक एवं सामाजिक – सभी का लक्ष्य समता है; क्योंकि वह मानव-मन के मूल में है। इसी कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की अवाप्ति सभी को अभीष्ट होती है। जिस प्रकार आत्माएं मूल में समान होती हैं; किन्तु कर्मों का मेल उनमें विभेद पैदा करता है, उसी प्रकार समग्र मानव में भी स्वस्थ नियम-प्रणाली एवं सुदृढ़ संयम की सहयता से समाजगत समता की स्थापना की जा सकती है।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की मांग भी उतनी ही अधिक गहरी है। काश, हम उसे सुन और महसूस कर सकें तथा समता-दर्शन के विचार को व्यापक व्यवहार में ढाल सकें। पहले विचार और बाद में व्यवहार – यही क्रम सुव्यवस्था का परिचायक है।

वर्तमान विषमता के मूल में सत्ता और सम्पत्ति पर व्यक्तिगत या पार्टीगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेष रूप से कारणभूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास में बाधक है। समता ही इसका स्थायी और सर्वजनहितकारी समाधान है।

समता दर्शन का लक्ष्य है कि समता विचार में हो, दृष्टि और वाणी में हो; तथा समता आचरण के प्रत्येक चरण में हो। जब समता जीवन के अवसरों की प्राप्ति में होगी और सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार में होगी तो वह व्यवहार के समूचे दृष्टिकोण में होगी। समता मनुष्य के मन में होगी तो वह समाज के जीवन में भी होगी। प्रगति के ऐसे उत्कृष्ट स्तरों पर फिर समता के सुप्रभाव से मनुष्यत्व तो क्या – ईश्वरत्व भी समीप आने लगेगा।

विकासोन्मुख दर्शन

मानव-जीवन गतिशील है। मनुष्य के मस्तिष्क में नए-नए विचारों का उदय होता है। ये विचार प्रकाशित होकर अन्य विचारों को आंदोलित करते हैं। फिर समाज के विचारों के आदान-प्रदान एवं संघर्ष-समन्वय का क्रम चलता है। युग-पुरुष इसी विचार मंथन में से विचार-नवनीत निकालने का कार्य किया करते हैं।

महावीर की समता-धारा

यह तथ्य स्पष्ट है कि समता-दर्शन का सुगठित एवं मूर्त रूप सबसे पहले भगवान् पार्श्वनाथ एवं महावीर ने दिया। जब मानव समाज विषमता एवं हिंसा का चक्रव्यूह में फंसा तड़प रहा था, तब महावीर ने गंभीर चिन्तन के पश्चात् समता-दर्शन की जिस पुष्ट धारा को प्रवाहित किया, वह आज भी प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है। इस विचार धारा और उनके बाद जो चिन्तन धारा

चली है – यदि दोनों का सम्यक् विश्लेषण कर आज समता-दर्शन की स्पष्टता ग्रहण की जाए और उसे व्यवहार में उतारा जाए तो निस्संदेह मानव-समाज को आत्मोदय के पथ पर मोड़ा जा सकता है।

सभी आत्माएं समान

महावीर ने समता के मूल बिन्दु को सबसे पहले पहचाना और बताया। उन्होंने उद्घोष किया कि सभी आत्माएं समान हैं, यानी सभी आत्माओं को अपना सर्वोच्च विकास सम्पादित करने की समान शक्ति है। इस शक्ति को प्रस्फुटित एवं विकसित करने की समस्या अवश्य है, किन्तु लक्ष्य-प्राप्ति के सम्बन्ध में हताशा या निराशा का कोई कारण नहीं है। इसी विचार ने यह स्थिति स्पष्ट की कि 'जो आत्मा, सो परमात्मा' अर्थात् ईश्वर कोई अलग शक्ति नहीं, जो सदा से केवल ईश्वर रूप ही रही हो, बल्कि संसार में रही आत्मा ही अपनी साधना से जब उच्चतम विकास साध लेती है तब वही परमपद पाकर परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। यह परमात्मा सर्वशक्तिमान् एवं पूर्ण ज्ञानवान् तो होता है, किन्तु संसार से उसका कोई सम्बन्ध उस अवस्था में नहीं रहता।

क्रान्ति का यह स्वर महावीर ने गुंजाया कि संसार की रचना ईश्वर नहीं करता और उसे भी उन्होंने मिथ्या बताया कि ऐसे ईश्वर की इच्छा के बिना संसार में एक पत्ता भी नहीं खटकता। संसार की रचना को उन्होंने अनादि कर्म-प्रकृति पर आधारित बताकर आत्मीय समता की जो नींव रखी, उस पर समता का प्रासाद खड़ा करना सरल हो गया।

सबसे पहले समदृष्टि

महावीर ने सन्देश दिया कि सबसे पहले समदृष्टि बने। इसे उन्होंने जीवन-विकास का मूलाधार बताया। 'समदृष्टि' का शाब्दिक अर्थ है 'समान नजर रखना', लेकिन इसका गूढ़ार्थ बहुत गंभीर और विचारणीय है।

मनुष्य का मन जब तक संतुलित और संयमित नहीं होता, तब तक वह अपनी विचारणा के घात-प्रतिघातों से टकराता रहता है। उसकी वृत्तियां चंचल बनी रहती हैं। उसे सद् या असद् का विवेक नहीं रहता। मन की चंचलता राग और द्वेष से चलायमान रहती है। राग इस छोर पर, तो द्वेष उस छोर पर मन को इधर-उधर भटकाते हैं। इससे मनुष्य की दृष्टि बनती है। राग वाला अपना और द्वेष वाला पराया तो अपने और पराये का जहां भेद बनता है, वहां दृष्टि भेद तो रहता ही है।

महावीर ने मानव-मन की चंचलता पर पहली चोट की; क्योंकि वही तो बन्धन और मुक्ति का मूल कारण है। चंचलता राग और द्वेष को हटाने से हटती है और यदि चंचलता हटेगी तो विषमता हटेगी। विषम दृष्टि हटने पर ही समदृष्टि उत्पन्न होगी।

सबसे पहले समदृष्टित्व आये, यह वांछनीय है; क्योंकि समदृष्टि जो बन जाएगी, वह स्वयं तो समता-पथ पर आरूढ़ होगा ही, अपने सम्यक् संसर्ग से वह दूसरों को भी विषमता के चक्रव्यूह से बाहर निकालेगा। इसका प्रभाव जितना व्यापक होगा, उतना ही व्यक्ति एवं समाज का सभी क्षेत्रों में चलने वाला क्रम सही दिशा की ओर परिवर्तित होने लगेगा।

श्रावकत्व एवं साधुत्व

समदृष्टि होना समता के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का समारम्भ मात्र है। फिर महावीर ने कठिन क्रियाशीलता का क्रम बताया। 'समतामय दृष्टि' के बाद 'समतामय आचरण' की पूर्ति के लिए दो स्तरों की रचना की गई।

पहला स्तर रखा श्रावकत्व। श्रावक के बारह अणुव्रत बताये गए हैं, जिनमें पहले के पांच मूल गुण कहलाते हैं एवं सात उत्तर गुण। मूल गुणों की रक्षा से निमित्त उत्तर का निर्धारण माना जाता है। व्रत पांच है - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। अनुरक्षक व्रत सात हैं - दिशा-मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदण्ड त्याग, सामायिक, देशावकालिक, प्रतिपूर्ण पौषध एवं अतिथि-संविभाग।

श्रावक के जो पांच मूल व्रत हैं - वे ही साधु के पांच महाव्रत हैं। अन्तर दोनों में यह है कि जहां श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री-गमन एवं सीमित परिग्रह का त्याग करता है; वहां साधु सम्पूर्ण रूप से हिंसा, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह का त्याग करता है। आंशिक स्तर श्रावक का है, तो साधु त्याग की उच्च श्रेणियों में रमण करता हुआ समता-दर्शन की सूक्ष्म रीति से साधना करता है। महावीर का मार्ग एक दृष्टि से निवृत्ति-प्रधान मार्ग है - वह इसलिए कि उनकी शिक्षाएं मनुष्य को जड़ पदार्थों के व्यर्थ व्यामोह से हटाकर चेतना के ज्ञानमय प्रकाश में ले जाना चाहती है। निवृत्ति का विलोम है प्रवृत्ति अर्थात् आन्तरिकता से विस्मृत बनकर बाहर ही बाहर मृगतृष्णा के पीछे भटकते रहना। जहां यहां भटकाव है, वहां स्वार्थ है, विकार है और विषमता है। समता की सीमा-रेखा में लाने, बनाये रखने और आगे बढ़ाने के उद्देश्य से ही श्रावकत्व एवं साधुत्व की उच्चतर श्रेणियां बनाई गई हैं।

जानने की सार्थकता मानने में है और मानना तभी सफल होता है, जब उसके अनुसार किया जाए। विशिष्ट महत्त्व तो करने का है। आचरण ही जीवन को आगे बढ़ाता है - यह अवश्य है कि आचरण अंधा या विकृत न हो।

विचार और आचार

दृष्टि जब सम होती है अर्थात् उसमें भेद नहीं होता, विकार नहीं होता और अपेक्षा नहीं होती, तब उसकी नजर में जो आता है वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दूषित। वह निरपेक्ष दृष्टि स्वभाव से देखती है। विचार और आचार में समता का यही अर्थ है कि जब हम किसी समस्या पर सोचें अथवा किसी सिद्धान्त पर क्रियान्वयन करें तब उस समय समदृष्टि एवं समभाव रखें; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सभी विचारों की एक ही लीक को मानें या एक ही लीक में भेड़-वृत्ति से चलें। व्यक्ति के चिन्तन या कृतित्व-स्वातन्त्र्य का लोप नहीं होना चाहिए; बल्कि ऐसी स्वतन्त्रता तो सदा उन्मुक्त रहनी चाहिए।

समदृष्टित्व एवं समभाव के साथ बड़े-से-बड़े समूह का भी चिन्तन या आचरण होता तो समता का यह रूप उसमें दिखाई देगा कि सभी एक-दूसरे की हित-चिन्ता में निरत हैं और कोई भी ममत्व या मूर्च्छा का मारा नहीं है। निरपेक्ष चिन्तन का फल विचार-समता से प्रगट होगा, किन्तु यदि उस चिन्तन के साथ दम्भ, हठवाद अथवा यथोलिप्सा जुड़ जाए तो वह विचारणीय संघर्षशील बनता है। ऐसे संघर्ष का निवारक महावीर का सिद्धान्त अनेकान्तवाद या सापेक्षवाद है - जिसका अर्थ है कि प्रत्येक विचार में कुछ-न-कुछ सत्यांश होता है और अपेक्षा से भी सत्यांश होता है तो फिर अंशों को जोड़कर पूर्ण सत्य से साक्षात्कार करने का यत्न क्यों न किया जाए? यह विचार संघर्ष से हटकर विचार-समन्वय का मार्ग है, ताकि हम प्रत्येक विचार की अच्छाई को ग्रहण कर सकें।

आचार-समता के लिए पांचों मूल व्रत हैं। मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार इन व्रतों की आराधना में आगे बढ़ता रहे तो स्वार्थ-संघर्ष मिट सकता है। परिग्रह का मोह छोड़े या घटाये और राग-द्वेष की वृत्तियों को हटाये तो हिंसा छूटेगी, चोरी और झूठ

छूटेगा तथा काम-वासना की प्रबलता भी मिटेगी। सार-रूप से महावीर की समता-धारा विचारों और स्वार्थों के संघर्ष को मिटाने में सशक्त है, बशर्ते उस धारा में अवगाहन किया जाए।

संघ और समता

महावीर ने इस समता-दर्शन को व्यावहारिक बनाने के लिए जिस चतुर्विध संघ की स्थापना की, उसकी आधार-शिला भी इसी पर रखी गई। इस संघ में साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका वर्ग का समावेश किया गया। साधना के स्तरों में अन्तर होने पर भी दिशा एक होने से श्रावक एवं साधु वर्ग को एक साथ संघ-बद्ध किया गया। दूसरी ओर उन्होंने लिंग-भेद भी नहीं किया - साध्वी और श्राविका को साधु एवं श्रावक वर्ग श्रेणी में ही रखा। जाति-भेद के तो महावीर मूलतः विरोधी थे। इस प्रकार महावीर के चतुर्विध संघ का मूलाधार समता है। दर्शन और व्यवहार में दोनों पक्षों में समता को मूर्त रूप देने का जितना श्रेय महावीर को है, उतना संभवतः किसी अन्य को नहीं है।

नूतन परिप्रेक्ष्य

मनुष्य चिन्तन और विवेकशील प्राणी है। वह प्रगति भी करता है, विगति भी; किन्तु यह सत्य है कि वह गतिवान् है। इसी गतिचक्र में परिप्रेक्ष्य बदलते रहते हैं। जिस दृष्टि से एक तत्त्व या पदार्थ को कल देखा था - शायद समय, स्थिति आदि के परिवर्तन से वही दृष्टि आज कुछ भिन्न कोण से दिखे। कोण भी देश, काल और भाव की अपेक्षा से बदलते रहते हैं; अतः स्वस्थ दृष्टिकोण यह होगा कि परिवर्तन के प्रवाह को समझा जाए तथा परिवर्तन के प्रवाह में मौलिकता को कदापि विस्मृत न होने दिया जाए। दोनों का समन्वित रूप ही श्रेयस्कर हो सकता है।

सामाजिक शक्ति का उभार

वैज्ञानिकों के विकास ने मानव-जीवन की चली आती परम्परा में अचिन्तनीय क्रान्ति की है। व्यक्ति की जान-पहचान का दायरा जो पहले बहुत छोटा था - समय और दूरी पर विज्ञान की विजय ने उसे अत्यधिक विस्तृत कर दिया है। आज साधारण से साधारण व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष परिचय काफी बढ़ गया है तो रेडियो, टेलीविजन एवं समाचार-पत्रों के माध्यम से उसकी जानकारी का क्षेत्र समूचे ज्ञात विश्व तक फैल गया है।

इस व्यापक परिचय ने व्यक्ति को अधिकाधिक सामाजिक बनाया; क्योंकि उपयोगी पदार्थों के विस्तार से उसका एकावलम्बन टूट-सा गया - समाज का अवलम्बन पग-पग पर आवश्यक हो गया। अधिक परिचय से अधिक सम्पर्क और अधिक सामाजिकता फैलने लगी। सामाजिकता के प्रसार का अर्थ हुआ सामाजिक शक्ति का नवोत्थान।

अब तक व्यक्ति का प्रभाव अधिक था, समाज का सामूहिक शक्ति के रूप में प्रभाव नगण्य था; अतः व्यक्ति की सर्वोच्च प्रतिभा से ही सारे समाज को किसी प्रकार का मार्गदर्शन मिलता था। अब राजनीति और अर्थनीति की धुरी भी व्यक्ति के ही चारों ओर घूमती थी। राजतंत्र का प्रचलन था और राजा को ईश्वर रूप समझा जाता था। उसकी इच्छा का पालन ही कानून था। अर्थनीति भी राजा के आश्रय में चलती थी।

वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक शक्ति के भार ने परिवर्तन के चक्र को तेज कर दिया।

समता : राजनीतिक और आर्थिक

आधुनिक इतिहास का यह बहुत लम्बा अध्याय है कि किस प्रकार विभिन्न देशों में जनता को राजतंत्र से कठिन और बलिदानी लड़ाइयां लड़नी पड़ी तथा दीर्घ संघर्ष के बाद अलग-अलग देशों में अलग-अलग समय में वह राजतंत्र की निरंकुशता से मुक्त हो सकी। इस मुक्ति के साथ ही लोकतंत्र का इतिहास प्रारंभ होता है। जनता की इच्छा का बल प्रकट होने लगा और जन-प्रतिनिध्यात्मक सरकारों की रचना शुरू हुई। इसके आधार पर संसदीय लोकतंत्र की नींव पड़ी।

लोकतंत्र की जो छोटी-सी व्याख्या की गई है कि वह तंत्र जो जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए हो - स्थिति को प्रकट करती है कि एक व्यक्ति की इच्छा नहीं, समूह की इच्छा प्रभावशील होगी। व्यक्ति अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी तथा एक ही व्यक्ति एक बार अच्छा हो सकता है तो दूसरी बार बुरा भी - अतः एक ही व्यक्ति की इच्छा पर अगणित व्यक्ति निर्भर रहें - यह समता की दृष्टि से ही अन्यायोचित माना जाने लगा है। समूह की इच्छा सहसा नहीं बदलती और न ही अनुचित की ओर आसानी से जा सकती है, अतः समूह की इच्छा को प्रमुखता देने का प्रयत्न ही लोकतंत्र के रूप में सामने आया।

लोकतंत्र के रूप में राजनीतिक समानता की स्थापना हुई कि छोटे-बड़े प्रत्येक नागरिक को एक मत समान रूप से देने का अधिकार है और बहुमत मिलाकर अपने प्रतिनिधि का चुनाव किया जाए। यह पक्ष अलग है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर किस प्रकार अच्छी से अच्छी व्यवस्था को तहस-नहस कर सकते हैं, किन्तु लोकतंत्र का ध्येय यही है कि सर्वजन हिताय एवं साम्य के लिए व्यक्ति की उद्दाम कामनाओं पर नियंत्रण रखा जाए।

चिन्तन की प्रगति के साथ इसी ध्येय को आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी सफल बनाने के प्रयास आरम्भ हुए। इन प्रयासों ने मनुष्यकृत आर्थिक विषमता पर करारी चोट की और जिन सामाजिक सिद्धान्तों का निर्माण किया, उनमें समाजवाद एवं साम्यवाद प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तों का विकास भी धीरे-धीरे हुआ और कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद के रूप में इस युग में एक पूरा जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया। युग अलग-अलग थे; किन्तु क्रान्ति की जो धारा अपरिग्रह के रूप में महावीर ने प्रवाहित की, वैचारिक दृष्टि से कार्ल मार्क्स पर भी उसका कुछ प्रभाव था। कार्ल मार्क्स में भी यह तड़प थी कि यह अर्थ व्यक्तिगत स्वामित्व के बन्धनों से छूटकर जन-जन के कल्याण का साधन बन सके। व्यक्तिगत स्वामित्व के छूटने का अर्थ होगा अपरिग्रह का ममत्व छूटना। सम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व की स्थापना से धन-लोलुपता नहीं रहती है। मानवता प्रमुख रहे और धन उसके साधन रूप में गौण स्थान पर रहे - मार्क्स ने बताया कि एक परिवार की तरह सारे समाज में आर्थिक एवं सामाजिक समानता का प्रसार होना चाहिए।

अर्थ का अर्थ/अर्थ का अनर्थ

सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक विकास की ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि इस प्रक्रिया में अर्थ का भारी प्रभाव रहा है। जिस वर्ग के हाथों में अर्थ का नियन्त्रण रहा, उसी के हाथों में सारे समाज की सत्ता सिमटी रही; बल्कि यों कहना चाहिए कि समाज के विभिन्न क्षेत्रों में समता प्राप्त करने के जो प्रयत्न चले अथवा कि जो प्रयत्न सफल हुए - अर्थ की सत्ता वालों ने उन्हें नष्ट कर दिया। आज भी इसी अर्थ के अनर्थ रूप जगह-जगह लोकतन्त्र की अथवा साम्यवाद तक की दूषित प्रक्रियाएं बनाई जा रही

हैं। सम्पत्ति की सत्ता का उदय तब हुआ है, जब मनुष्य का प्रकृति का शुद्ध आश्रय छूट गया और उसे अर्जन के लिए कर्मक्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा। जिसके हाथ में अर्जन एवं संचय का सूत्र रहा - सत्ता का सूत्र भी उसी ने पकड़ा। आधुनिक युग में पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद तक की गति इसी परिपाटी पर चली जो व्यक्तिवादी नियन्त्रण पर आधारित रही अथवा यों कहें कि अर्थ के अनर्थ का विषमतरु रूप इन प्रणालियों के रूप में सामने आया, जिनका परिणाम विश्व-युद्ध, नर-संहार एवं आर्थिक शोषण के रूप में फूटता रहा है।

अर्थ का अर्थ जब तक व्यक्ति के लिए और व्यक्ति के नियन्त्रण में रहेगा तब तक वह अनर्थ का मूल भी बना रहेगा; क्योंकि वह उसे त्याग की ओर बढ़ने से रोकेगा, उसकी परिग्रह-मूर्च्छा को काटने में कठिनाई आती रहेगी; इसलिए अर्थ का अर्थ समाज से जुड़ जाए और उसमें व्यक्ति की अर्थाकांक्षाओं को खुलकर खेलने का अवसर न हो तो संभव है, अर्थ के अनर्थ को मिटाया जा सके।

दोनों छोर मिलायें

ये सारे प्रयोग फिर भी बाह्य प्रयोग ही हैं और बाह्य प्रयोग तभी सफल बन सकते हैं, जब अन्तर का धरातल उन प्रयोगों की सफलता के अनुकूल बना लिया गया हो। तकली से सूत काता जाता है और सूत से वस्त्र बनाकर किसी भी नंगे बदन को ढंका जाता है, लेकिन कोई दुष्ट प्रकृति का मनुष्य तकली से सूत न कात कर उसे किसी दूसरे की आंख में घुसेड़ दे तो क्या हम उसे तकली का दोष मानें? सज्जन प्रकृति का मनुष्य बुराई में भी अच्छाई को ही देखता है; लेकिन दुष्ट प्रकृति का मनुष्य अच्छे से अच्छे साधन से भी बुराई करने की चेष्टा करता रहता है।

तो एक ही कार्य के दो छोर हैं - व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण एवं आत्म साधना से श्रेष्ठ प्रकृतियों में ढलता हुआ उच्चतम विकास करे और साधारण रूप से और उसकी साधारण स्थिति में सामाजिक नियन्त्रण से उसे समता की लीक पर चलाने की प्रणालियां निर्मित की जाए। ये दोनों छोर एक-दूसरे के पूरक बनें, आपस में जुड़ें, तब व्यक्ति में समाज और समाज में व्यक्ति का निर्माण सहज बनेगा।

सामान्य स्थिति अधिकांशतः ऐसी ही रहती है कि समाज के बहुसंख्यक लोग सामान्य मानस के होते हैं, जिन पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण रहे तो वे सामान्य गति से चलते रहते हैं, अन्यथा रास्ते में भटक जाना उनके लिए आसान होता है। जो लोग प्रबुद्ध होते हैं, वे स्वयं भ्रष्ट न होकर चेतना को जागृत रखते हुए यदि ऐसी सामाजिक स्थितियां बनायें जो सामान्य जन के नैतिक विकास को प्रोत्साहित करती हों तो वह सर्वथा वांछनीय होगा।

समता के स्वर

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियों के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरों को सारी दिशा में गुंजायमान करने की आवश्यकता है। समस्त जीवन के सभी क्षेत्रों में फैली विषमता के विरुद्ध मनुष्य को संघर्ष करना होगा, क्योंकि इस विषम वातावरण में मनुष्यता का निरन्तर हास होता जा रहा है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता और बदलता रहेगा, किन्तु मनुष्यता कभी समाप्त नहीं होगी, उसका सूरज डूबेगा

नहीं। वह सो सकती है, मर नहीं सकती। अब समय आ गया है जब मनुष्य की सजीवता को लेकर मनुष्य को उठना होगा - जागना होगा और क्रान्ति-पताका को उठाकर परिवर्तन का चक्र घुमाना होगा। क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमताजन्य सामाजिक मूल्यों को हटाकर समता के नए मानवीय मूल्यों की स्थापना की जाए। इसके लिए प्रबुद्ध एवं युवावर्ग को विशेष रूप से सामने आना होगा और उसे एक व्यापक जागरण का शंख फूंकना होगा, ताकि समता के समरस स्वर उद्बुध हो सकें।

नई रोशनी

सत्यांशों के संचय से समता-दर्शन का जो सत्य हमारे सामने प्रकट होता है, उसे यथाशक्ति, यथासाध्य सबके समक्ष प्रस्तुत करने का नम्र प्रयास यहां किया जा रहा है। समता-दर्शन का यह नया प्रकाश प्रेरणा एवं रचना की नई अनुभूतियों को सजग बना सकेगा।

समता-दर्शन को अपने नवीन एवं सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए उसके निम्न चार सोपान बनाए गए हैं -

1. सिद्धान्त-दर्शन

मानव ही नहीं, प्राणी समाज से संबंधित सभी क्षेत्रों में यथार्थ दृष्टि, वस्तु-स्वरूप, उत्तरदायित्व तथा शुद्ध कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान एवं सम्यक्, सर्वांगीण एवं संपूर्ण चरम विकास की साधना, समता सिद्धान्त का मूलाधार है। इस सोपान पर सिद्धान्त प्रमुखता दी गई है।

2. जीवन-दर्शन

सबके लिए एक तथा एक के लिए सब तथा जियो और जीने दो के प्रतिपादक सिद्धान्तों तथा संयम-नियमों को स्वयं को और समाज के जीवन में आचरित करना समता का जीता-जागता रूप होगा।

3. आत्म-दर्शन

समतापूर्ण आचार की पृष्ठभूमि पर जिस प्रकाश स्वरूप-चेतना का आविर्भाव होगा, उसे सतत् एवं सत्साधना, पूर्ण सेवा तथा स्वानुभूति के बल पर पुष्ट करते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की व्यापक भावना में आत्मविसर्जित हो जाना समता का तीसरा चरण होगा।

4. परमात्म-दर्शन

आत्मविसर्जन के बाद प्रकाश में प्रकाश के समान मिल जाने की यह चरम स्थिति है। तब मनुष्य न केवल एक आत्मा अपितु सारे प्राणी समाज को अपनी सेवा एवं समता की परिधि में अन्तर्निहित कर लेने के कारण उज्वलतम स्वरूप प्राप्त करके स्वयं परमात्मा हो जाता है। आत्मा का परम स्वरूप ही समता का चरम स्वरूप है।



अमरता की खोज में

मानव के सम्मुख एक प्रश्न है - पीयूष की वह धारा कहां है? कहां मिलेगी वह संजीवनी बूटी, जिसे पाकर मैं अमरता का पथिक बन सकूंगा? कहीं कोई ऐसी विद्या या मंत्र शक्ति हो तो उसका सहारा ले लूं, कहीं कोई सिद्धि हो तो उसे पाकर सफल हो जाऊं। ऐसी न जाने क्या-क्या, कैसी-कैसी कल्पनाएं जन-जन के मन-मस्तिष्क में आती रहती हैं।

अन्तरावलोकन

आधुनिक युग का मानव वायुमण्डल के प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण आदि को जान रहा है और चिन्तित भी है। यहां ज्ञातव्य एवं ध्यातव्य है कि बाह्य एवं दृश्य प्रदूषण वस्तुतः अन्तर के प्रदूषण से ही बनता-बढ़ता है। इस तथ्य को जानने और इससे साक्षात्कार के लिए दृष्टि को एक उपयुक्त मोड़ देना आवश्यक है। अन्तर का अवलोकन करना इस दिशा में प्रथम कदम है। यदि हम अन्तरावलोकन करें तो सही एवं स्पष्ट स्थिति हमारे सम्मुख आ सकती है।

गहन चिन्तन से प्रकट होता है कि मानव-मन में रही हुई तामसिक भावनाओं/वृत्तियों से ही हमारे इर्द-गिर्द का वातावरण अशुद्ध बनता है और ऐसे ही सात्त्विक विचारों से विशुद्ध पर्यावरण का निर्माण होता है।

हमारा भविष्य

आज सरकार की शक्ति बाहरी प्रदूषण को हटाने में प्रयासरत है, इस चिन्तन में कई विज्ञ चिन्तक, विचारक एवं अन्यान्य वैज्ञानिकों का चिन्तन एवं प्रयत्न बढ़ा है। प्रबुद्ध वर्ग चिन्तित एवं व्यथित है। उसके सामने प्रश्न है - 'हमारा भविष्य क्या होगा?' पर्यावरण के खतरे से बचने के हेतु विज्ञापन दिए जा रहे हैं, साधनों की खोज जारी है और तत्संबंधी सामग्री एकत्रित की जा रही है। सबका एक ही ध्येय है कि सृष्टि का सर्वोच्च शृंगार - मानव, सुरक्षित रूप से जीवन जीने का पूर्ण एवं सुरक्षित अधिकार प्राप्त कर सके। उदार दृष्टि से देखा जाए तो इस धरा पर मनुष्य एकमात्र ही सर्वाधिक अधिकार-सम्पन्न अस्तित्व नहीं है, वरन् प्रत्येक प्राणी को भी इतना ही अधिकार प्राप्त है। इसका प्रथम उद्घोष भगवान महावीर ने किया। 'जीओ और जीने दो' जैसी उदात्त भावना से ही प्रत्येक मनुष्य का जीवन सुरक्षित एवं विकसित हो सकता है।

जीवन-शैली

इतिहास साक्षी है कि यदि मानसिक धरातल को कोमल-मृदुल बनाने एवं उसके विषय-विकास रूपी कूड़े-कचरे को हटाने-मिटाने का पुनीत लक्ष्य बनाया जाए तो सदैव संशोधन परिमार्जन के अवसर विद्यमान हैं। मनोविज्ञान भी इसी कथन को सिद्ध करता है और एतद्विषयक विभिन्न प्रयोगों से अनुकूल परिणाम भी सामने आते हैं। सद्भावनाओं के संचार से ही जगती के अणु-अणु में, प्रकृति के कण-कण में जो निखार आ सकता है, वैसी शक्ति किसी भी भौतिक साधन में नहीं है; अतः विविध पक्षीय बाह्य प्रदूषण के उन्मूलन के साथ जन-जन को जागृत होने, मन-मस्तिष्क को सच्चिन्तन की खुराक देने की आवश्यकता है। यदि अच्छे विचारों/नैतिक धाराओं को प्रवाह मिल जाए तो जन-जन के जीवन की खेती मनमोहक बनेगी, लहलहाने लगेगी। अन्तर का प्रदूषण मिटने पर बाह्य प्रदूषण आपोआप समाप्त हो जाएगा।

अमृत के झरने

मनुष्य अपनी आन्तरिक लालसा से अमर बनने के लिए अमृत का निर्झर खोजता है, अमरत्व पाने हेतु संजीवनी ढूँढना चाहता है। उसे मृत्यु की छाया मात्र से भय है, अतः मौत से दूर – अधिक दूर भाग जाना चाहता है। कैसी विडम्बना है! कैसी विचित्रता है! कैसा खिलवाड़ है! मानव-जीवन की भव्य गरिमा का, जीवन का क्या यही स्वरूप है? सम्यक् दृष्टि से ही सत्य की खोज अपेक्षित है। दृष्टि सही बन जाए तो सृष्टि भी स्वतः सही हो जाएगी।

मृत्यु को बनायें पर्व

'जीव' शब्द से ही 'जीवन' शब्द का निर्माण हुआ है, जिसका स्पष्ट अर्थ है जीने की अभिलाषा, जीवत्व का भाव, जीवन की आकांक्षा। यह इच्छा स्वाभाविक है और स्वभाव को किसी भी स्थिति में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, परन्तु जीवन की सच्ची परिभाषा मृत्यु को समझना है। जीवन के चरम छोर मृत्यु को महोत्सव मानना ही मृत्यु के वास्तविक सार को समझना है। यह जीवन विराट एवं अगाध है, अजर एवं अमर है, परन्तु इस पांच-सात फुट की देह को ही जीवन मानना हमारे ज्ञान का बौनापन है। इसी कारण हम सत्य से अतीव दूर हैं। प्रायः मानव एक चाह तो रखता है शाश्वतता की, परन्तु उसे सही राह नहीं मिल पाती, जीने की उत्कण्ठा होते हुए भी अमरत्व का पथ/नहीं मिल पाता। सुधार का सागर चाह कर भी वह उसकी एक बूंद का स्वाद नहीं ले पाता।

उसके सम्मुख एक प्रश्न है – वह पीयूष की धारा कहां है? कहां मिलेगी वह संजीवनी बूटी, जिसे पाकर मैं अमरता का पथिक बन सकूंगा? कहीं कोई ऐसी विद्या या मंत्र-शक्ति हो तो उसका सहारा ले लूं, कहीं कोई सिद्धि हो तो उसे पाकर सफल हो जाऊं – ऐसी न जाने कैसी-कितनी कल्पनाएं जन-जन के मन-मस्तिष्क में आती रहती हैं, परन्तु इतिहास के पृष्ठों से ज्ञान होना कठिन है कि अतीत में ऐसी किसी शक्ति या विधि का निर्माण हुआ हो कि अमरता की यह आशा फलित हुई हो। चाहे आज वैज्ञानिक आविष्कारों के अंबार लग गए, पर यह समाधान की कोई भी यंत्र-शक्ति प्राप्त नहीं कर पायी। संसार की चाहे किसी भी शक्ति को विशिष्ट माना जाए पर इस शाश्वत सत्य को नकारा नहीं जा सकता। इस संदर्भ में न कोई ज्योतिष विद्या सफल हुई और न ही कोई तांत्रिक शक्ति; अतः अमृत के घूंट को पाने के इच्छुक व्यक्ति यदि अमरता के पावन-पुनीत पथ को पाना चाहते हैं तो जब उनका पुरुषार्थ अध्यात्म-पथ की ओर सतत् गतिशील होगा, उन्हें तब परम पद अवश्य मिल जाएगा, तब उनके जीवन का कण-कण अवश्य खिल जाएगा।



निष्प्राण रूढ़ियों की लाश ढोते हम

परिवर्तन की प्रक्रिया में ऐसी समीक्षा यह जानने के लिए जरूरी होती है कि किसी रूढ़ि के विषय में एक सामान्य जन का अज्ञान कितना है और उस बारे में किसी विशिष्ट वर्ग का मायाचार कितना है। इसी के आधार पर किसी प्राणहीन रूढ़ि के विरुद्ध एक सफल अभियान चलाया जा सकता है और उसके खिलाफ एक सक्रिय विद्रोह जगाया जा सकता है।

यदि किसी व्यक्ति को आप किसी की मृत देह अपने कंधों पर हर समय ढोये चलते देखें तो आप क्या सोचेंगे? अलग-अलग विचार इस रूप में प्रकट हो सकते हैं कि यह उसकी बेहद मूर्खता है या उसका अतिशय मोह है या कि उसकी कोई छुपी हुई घोर कुटिलाई है। मूर्खता कहने वालों का तात्पर्य होगा कि सामान्य रूप से मृत देह का अंतिम संस्कार नहीं करके जो उसे अपने कंधों पर ढोये फिर रहा है, उसमें उसकी मस्तिष्क-विकृति ही हो सकती है। मोह की बात भी बेवश मानी जा सकती है, लेकिन यह कुटिलाई की बात गहराई से जांचने परखने की होती है। मृत देह को कंधों पर ढोते रहने से उसका भीतर का कोई मन्तव्य है - यह चौंकाने वाली बात होती है उसकी निकृष्टता कि लाश के जरिए भी वह अपना कोई छुपा हुआ मतलब पूरा करना चाहता है।

जब आज समाज में इस तथ्य की समीक्षा की जाती है कि लोग प्राणहीन रूढ़ियों की गुलामी में क्यों पड़े हुए हैं, तब कुछ-कुछ इसी विधि से सोचना पड़ता है कि वे मृत देह को अपने कंधों पर ढोकर क्यों चल रहे हैं? यह अज्ञान भी हो सकता है तो किसी वर्ग का मायाचार भी। जो भी हो, वर्तमान रूढ़ियों के निवारण की भावना रखते हुए उनके आज भी टिके रहने के कारणों की पूरी समीक्षा तो आवश्यक है ही। इस समीक्षा से ही यह जाना जा सकेगा कि समाज के किन वर्गों का उस संबंध में फैला हुआ अज्ञान दूर करना होगा तो किन वर्गों के मायाचार के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ेगा। अज्ञान या मोह तथा मायाचार दोनों के निवारण का कार्य सरल नहीं है, अतः जो लोग वर्तमान में प्रचलित रूढ़ियों को मिटाना चाहते हैं उन्हें पूरी सूझ-बूझ तथा त्याग-वृत्ति का परिचय देना होगा।

मायाचार कितना, अज्ञान कितना

रूढ़ि को कुरूढ़ि कहने की जरूरत नहीं है, क्योंकि 'कुरु' लगने पर भी रूढ़ि बनती है। जैसा कि आप समझ चुके होंगे कि आज उत्साह के साथ शुद्ध भावों की रक्षा के लिए किसी भी रीति का पालन किया जाता है और प्रचलन होता है तो उस रीति में सद्भाव और सहयोग बना रहता है, किन्तु जब प्रकृति का काल-प्रवाह और मनुष्य के स्वार्थ, ढोंग और आडम्बर से उस रीति को विकृत बना दिया जाता है तब उसका पालन उत्साहहीन, प्राणहीन तथा दिशाहीन बन जाता है और वैसा पालन रूढ़ि कहलाता है। विकृत रीति को इसी कारण रूढ़ि का नाम दे दिया जाता है।

रूढ़ि प्राणहीन इसलिए कहलाती है कि उसका पालन करने वाला व्यक्ति या समाज इस तथ्य को भुला देता है कि उस रीति के पालन का शुभ उद्देश्य क्या था? आप सोचें कि सामायिक क्यों की जानी चाहिए? उसका उद्देश्य है समता-भाव को अपने

अन्तःकरण में पैदा करना और पुष्ट करना ताकि वह भाव अपने पूरे जीवन के व्यवहार में फैले तथा दूसरे लोगों को भी अपनी शुभ्रता की ओर आकर्षित करे। आप रोज सामायिक करें और इस उद्देश्य को बराबर ध्यान में रखें, तभी उद्देश्य प्राणवान् बना रह सकता है और सामायिक की साधना भी जीवन्त रूप धारण किए हुए प्रचलित रह सकती है।

अब इसी साधना के बारे में इतना अज्ञान हो या बन जाए कि मशीन की तरह सारी पाटियां गिन लें और निर्धारित समय तक बैठे रहें, किन्तु यह न जानें कि इससे हमको मिलना क्या है तो आप भी सहमत होंगे कि सामायिक का वांछित फल तो नहीं मिलेगा, किन्तु काल-प्रवाह में यह भी कठिन हो सकता है कि इस सामायिक की साधना का स्वरूप भी शुद्ध बना रहे। जब धार्मिक क्रिया को भी रूढ़ बना सकते हैं तब सांसारिक रीति रूढ़ बन जाए, ऐसा उद्देश्य संबंधी अज्ञान सामान्य जन में फैल ही सकता है, लेकिन यह स्थिति गंभीरता से विचारणीय होती है, जब कोई व्यक्ति या वर्ग अपने स्वार्थ, ढोंग या आडम्बर को प्रभावी दिखाने के लिए किसी रीति की अच्छाई का गला घोटकर उसे रूढ़ि बना देता है।

परिवर्तन की प्रक्रिया में ऐसी समीक्षा यह जानने के लिए जरूरी होती है कि किसी रूढ़ि के विषय में एक सामान्य जन का अज्ञान कितना है और इस बारे में किसी विशिष्ट वर्ग का मायाचार कितना? इसी जानकारी के आधार पर प्राणहीन रूढ़ि के विरुद्ध एक सफल अभियान चलाया जा सकता है और क्रियाशील विद्रोह जगाया जा सकता है।

दहेज का छल

दहेज की रूढ़ि पूरी तरह से मायाचार के आधार पर बनी और चली है। विवाह गृहस्थ जीवन की एक रीति ही नहीं है, वरन् उसका एक संस्थागत स्वरूप माना जाता है। जैसे समाज में धन की समानता स्थापित करने के संबंध में कई विचारधाराएं बनी तो उसका उद्देश्य रोटी की सुव्यवस्था करने का था कि सभी मूलभूत आवश्यकताएं किसी तरह पूरी हों। समाज में जैसे रोटी की समस्या होती है, वैसे ही यौनाचार की समस्या होती है कि उसकी भी सुव्यवस्था हो जिससे समाज में दुराचार-वृत्ति, नारी-यातना या ऐसे ही अन्य कुकृत्य ना फैलें। यौनाचार को सुव्यवस्थित बनाने का साधन है विवाह की संस्था।

विवाह एक युवक और युवती के बीच ऐसा बन्धन होता है जिसे जीवन-पर्यन्त निभाया जाता है। विवाह की सार्थकता धर्मपूर्वक काम में मानी गयी है, जिसमें दोनों पक्ष समान योग्यता, विवेक और शक्ति वाले हों तथा स्वेच्छा से नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए परस्पर जुड़ें। इस अनुष्ठान में न तो लड़की के बिकने और न लड़के के बिकने का सवाल पैदा होता है और न ही किसी का मूल्य उगाहने का। यह निर्णय भी संबंधित युवक एवं युवती का स्वयं का ही होना चाहिए, किन्तु हितैषियों की दृष्टि से निर्णय का भार माता-पिता ने संभाला। माता-पिता का दायित्व था कि दोनों के पारस्परिक हित मान को देखकर ही संबंध करना चाहिए, लेकिन वे अपने लाभ, मान या लोभ के चक्कर में पड़ने लगे और इस चक्कर को कामयाब बनाने के लिए मायाचार आवश्यक हो गया।

यहीं से बदलने लगा विवाह रूढ़ि में और दहेज इसका मुख्य मायाचार हो गया। लड़की वाला घर बारात लेकर आये और लड़के वालों को नारियल भेंटकर मिलनी में उसका मान करें और आतिथ्य सत्कार करें - यह तो ठीक; लेकिन लड़के वाला

दहेज की मांगणी करे और लड़की वाले की हैसियत हो तो अलग बात; लेकिन यदि वह दहेज देने के लिए मजबूर हो तो यह रूढ़िगत मायाचार ही कहलायेगा। दहेज का रूप भी धीरे-धीरे विकराल होता चला गया है। लालची मां-बाप अपने बेटों की बोटी-बोटी का दाम उगाहने लगे हैं - आज दहेज की ऐसी दशा सामने आ गई है।

दहेज की इसी राक्षसी वृत्ति का कुफल है कि जगह-जगह दहेज अधिक से अधिक लाने के लिए बहुओं को यातनाएं दी जाती हैं या जला कर मार डाला जाता है। दहेज देने से मजबूर मां-बाप उम्र हो जाने तक अपनी बेटियों का ब्याह नहीं कर सकते हैं और उन्हें तरह-तरह के अपराधों तथा संत्रासों का शिकार होना पड़ता है। कई कुमारिकाएं इस कारण आत्महत्याएं कर लेती हैं कि उनके माता-पिता अपनी मजबूरी में छटपटा रहे हैं। इतनी दुःख-दुविधा के बाद भी लड़के वाले और पैसे वाले इस रूढ़ि को पकड़े रहे - यह उनका मायाचार ही तो है - माया को वह नहीं छोड़ सकते, चाहे कड़ियों के प्राण छूटते क्यों न चले जाएं। किसी ने मुझे बताया कि गत एक वर्ष में दिल्ली में ही दहेज के कारण साढ़े तीन सौ के करीब बहुएं जला कर मार डाली गईं।

क्या ऐसी राक्षसी रूढ़ि को एक पल के लिए भी सहन किया जा सकता है? फिर भी इसे जकड़े हुए हैं, क्या उन्हें सही नजर से देखा जा सकता है? अब तो विवाह योग्य युवक-युवतियों को ही आगे आकर इस रूढ़ि को तेजी से समाप्त करना चाहिए। आगे आकर माता-पिता का विरोध भी झेलना नहीं पड़े, इसके लिए मेरा सुझाव है कि आप सब युवक-युवतियां प्रतिज्ञा करें दहेज नहीं स्वीकार करने की और दहेज की बात नहीं हो तो वहां विवाह रचाने की। ऐसा विद्रोह जरूरी है।

ऐसे भोज : मानवता पर कलंक

भोज सबको प्रिय लगता है फिर वह भयंकर कैसे हो सकता है; किन्तु होता है और उसकी भयंकरता समझ कर वह छोड़ने लायक है।

पहला भयंकर भोज है मृत्यु भोज। किसी के घर कोई मर जाए और उसके घर पर माल उड़ाने का इंतजाम हो, कितने शर्म की बात है। आपके घर में कोई बीमार है, वह व्यथा से तड़प रहा हो और आपको उस बीमार के सामने माल-मिठाइयां उड़ाने के लिए दें तो क्या वह माल-मिठाई आप खा सकेंगे? कोई नहीं कहेगा कि वह खा सकता है। फिर जिस घर से अभी-अभी लाश उठी हो, परिवारजनों के आंसू अभी भी बह रहे हों और अभी भी उदासी और गमी की दशा बनी हुई है, वहां जाकर मृत्युभोज के रूप में माल मिठाइयां उड़ायें - क्या इसमें भी राक्षसी वृत्ति की झलक नहीं है? फिर ऐसा भोग भयंकर भोज कहलायेगा या नहीं? झूठी प्रतिष्ठा के नाम पर जो अब तक भी इस रूढ़ि को नहीं छोड़ रहे हैं, उन्हें अपने विवेक को जगाना चाहिए और उन्हें ही नहीं, बल्कि उनके वहां के संघ, समाज या कि जाति को मृत्युभोजों पर प्रतिबंध लगाने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिए।

फिर भयंकर भोज होता है वह भोज, जिसमें खुलकर अपने धन और आडम्बर का प्रदर्शन किया जाता है। एक ओर करोड़ों गरीब ऐसे हैं, जिन्हें एक समय का पूरा भोजन भी सुलभ नहीं होता है, वहां हजारों आमंत्रितों के भोज आयोजित किए जाएं, उनकी तैयारी पर हजारों रुपए खर्च किया जाए तथा धन-धान्य की बर्बादी की जाए - यह मानवता के विरुद्ध होगा।

समारोहों को सादे तरीकों से भी मना सकते हैं। समाज में चरित्र की अपेक्षा धन को जो प्रतिष्ठा मिली हुई है, उसी का यह

दुष्परिणाम निकलता है कि अपने धन का प्रदर्शन करने और उसके बल पर विशेष प्रतिष्ठा अर्जित करने की कुटिलता सफल बनती है। ऐसे आडम्बर पूर्व भोज या कि खर्चीली तैयारी चाहे विवाहों के अवसर पर हो या अन्य मौकों पर, वह व्यक्तिगत विकारों तथा सामाजिक दुर्व्यवस्था को बढ़ाने वाली होती है। नवधनाढ्यों के लिए इस धनाडम्बर-प्रदर्शन के पीछे कितने मध्यम परिवारों को खून के घूंट पीने पड़ते हैं, क्या इसका कोई हिसाब भी लगाता है?

आजकल सुना जाता है कि भयंकर भोज भी ऐसे होने लगे हैं, जिनमें मांसाहार परोसा जाता है। विवाह-शादी के प्रसंग पर ऐश्वर्य को दिखाने की मदोन्मत्त भावना से बारात मांसाहारी होटलों में ठहरायी जाती है और खानपान की व्यवस्था भी वहीं की जाती है। इसलिए यह प्रतिज्ञा ली जानी चाहिए कि मांसाहारी होटलों में न तो हम स्वयं ठहरेंगे, न अपने मेहमानों को या बारातों को ठहरायेंगे।

आडम्बर के रंग में रंगी रूढ़ियां

लोभ से लाभ और लाभ से लोभ – यह धनार्जन के तरीकों को ही बिगाड़ता रहता है तो लाभ-लोभी व्यक्ति के आचरण को भी बिगाड़ कर बर्बाद कर देता है। फिर आज के जमाने के मुताबिक यह लाभ दो नम्बर से बेशुमार होता हो तो उस धन के मद का कहना ही क्या? वह व्यक्ति को विवेकहीन बनाकर उन्मत्त कर देता है। आडम्बर में रंगी हुई सारी रूढ़ियां इसी उन्माद का दुष्परिणाम हैं।

शादी-विवाह के प्रसंग पर भौड़े तरीकों से नाचना, बैंड-बाजों पर पैसा बर्बाद करना, हिंसाकारी आतिशबाजी छोड़ना और बेशकीमती डेकोरेशन करना, यह सब नवधनाढ्यों को अपनी धन-सम्पत्ति का प्रदर्शन करने के लिए प्रिय लगता है, किन्तु वे यह नहीं सोचते कि अपने लाखों गरीब एवं मध्यम श्रेणी के भाइयों पर उसका कितना बुरा प्रभाव पड़ता है तथा समाज में विषमता की कैसी घातक दीवारें खड़ी होती हैं। जैसे दहेज का प्रदर्शन कम सम्पन्न लोगों को मुसीबत में डालता है वैसे ही आडम्बर में रंगी-डूबी हुई रूढ़ियां भी उनकी मुसीबत को बुरी तरह से बढ़ा देती हैं।

मन की गुलामी

रूढ़ियों की घातक बुराइयों को जानकर तथा उनके दुष्परिणामों को प्रत्यक्ष देखकर भी यदि रूढ़ियों की पकड़ हम पर बनी रहती है तो वह मन की गुलामी ही होगी। मन इसलिए गुलाम बना रहना चाहता है कि आप इन रूढ़ियों से फिर भी फायदा उठाना चाहते हैं, यानी दहेज कमाना चाहते हैं अथवा अपने धन-ऐश्वर्य की झूठी छाप समाज पर बनाये रखना चाहते हैं अथवा अपने भीतर वैसा साहस पैदा नहीं कर पाते हैं कि इन रूढ़ियों के निहित स्वार्थियों से संघर्ष कर सकें और रूढ़ियों को मिटाकर रहें। मन की गुलामी का एक कारण यह भी हो सकता है कि आपके सुधारवादी आंदोलनों को पूरा समर्थन न मिले या कि विरोध भी झेलना पड़े। इन्हीं रूढ़ियों के शिकार गरीब और मध्यम वर्ग के मन की गुलामी उनकी ज्ञानहीनता और असहयता में छुपी हुई होती है। जो हो, रूढ़ियों की पकड़ निश्चित रूप से मन की गुलामी में है और मन की इस गुलामी को हटाये बिना रूढ़ियों को

मिटाया भी नहीं जा सकेगा। मृत देह को कन्धों पर ढोते रहने के समान इन रूढ़ियों का बोझा भी मन का गुलाम ही ढो सकता है।

मन की ऐसी गुलामी को कैसे खत्म करें? इस गुलामी के कीटाणु हमारे सोचने के तरीकों में घुसे-फैले हैं। एक मध्यम वर्ग का सद्गृहस्थ सोचता है कि वह एक रूढ़ि को कैसे तोड़े-समाज के ताकतवर लोग उसकी गरीबी का मजाक उड़ा कर उसे बदनाम कर देंगे। एक नवधनाढ्य सोचता है कि इन रूढ़ियों के जरिए वह सारे समाज को अपने वर्चस्व से प्रभावित एवं आतंकित बना सकता है कि उसका धन कुछ खरीद-बेच सकता है - किसी को भी नामवर या बदनाम बना सकता है। उसका मन अपने लोभ, अपने मान और अपनी माया की गुलामी में होता है। अपने-अपने उपायों से सभी वर्गों को मन की गुलामी दूर करनी होगी।

रूढ़ियां छोड़ें

सजग व्यक्तियों को चाहिए कि वे रूढ़ियों के गुलाम न रहकर उन कार्यों को त्यागें, जो अनुचित, हानिप्रद और निरर्थक हैं। रूढ़ियां प्राणहीन ही होती हैं मृत शरीरों की तरह-जिनमें फिर से प्राण नहीं डाले जा सकते। इस कारण प्राणहीन रूढ़ियों का केवल त्याग ही करना होगा। प्राणहीन रूढ़ियों की गुलामी किसी भी रूप में बुद्धिमानी या कि सद्बुद्धि का परिचय नहीं देती है, अतः इन रूढ़ियों को जल्दी-से जल्दी छोड़कर अपने आचरण और समाज के चलन को शुद्ध बनाइये।



विचार धाराओं का प्रवाह

सही मायने में समझ लिया जाए तो उनकी विभिन्न अवस्थाएं ज्ञात हो सकती हैं और वह प्रवाह कहां से किस उद्देश्य से प्रवाहित हुआ, कहां किन से टकराया, किस प्रकार उस प्रवाह की स्थिति बिखरी, उसमें मौलिक अंश कितना रह पाया, वह अब कितना अन्य पर असर कर पायेगा, कितनी गति से उस व्यक्ति तक पहुंचेगा, अन्य वायुमण्डल को कितना दूषित कर पायेगा, जिस व्यक्ति से वह प्रभावित हुआ, उस व्यक्ति की शक्ति से क्या-क्या परिवर्तन आ पावेगा, इसका भी पता चल सकता है। किस जाति के किन-किन विचारों से उसका संसर्ग हुआ और किन-किन विचार-प्रवाहों के साथ उसका संसर्ग हो सकता है, उसके बाद उनमें क्या परिवर्तन आ सकेंगे, उनकी मूल जड़ क्या है, कैसे उनमें ताकत आ सकती है? आदि अनेक तरह की अवस्थाओं का ज्ञान होने पर इंसान की स्थिति कुछ और ही बन जाती है। उसमें स्वयं वह ताकत आ सकती है कि बिना किसी तार या मशीन आदि भौतिक माध्यमों से काफी दूर तक का विज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार प्रक्रियाओं से यदि आगे बढ़ने की शक्ति प्राप्त की जाए तो मनुष्य स्वतन्त्र स्वावलम्बन के साथ मनुष्यत्व को प्राप्त करता हुआ अमृत की ओर बढ़ सकता है और वर्तमान की अशान्ति का काफी हद तक अंत आ सकता है।

नानेश वाणी (दि. 02.09.65)



मनन



12 जुलाई, 1987/21 जुलाई, 1987

जहां मन की भूमिका कम-से-कम है अथवा सर्वथा शून्य है, वहां मनन है। मनन के लिए दो शब्द हैं - रोमन्थन और जुगाली।

रोमन्थन संस्कृत का और जुगाली लोकभाषा का शब्द है। बार-बार सोचना/पचाना रोमन्थन है और उदर से चबाने की प्रक्रिया में पुनः डालना जुगाली है। गाय जुगाली करती है, आदमी रोमन्थन।

नेत्र, जिनके भीतर नेत्र हैं

आमने-सामने हूँ एक जैनाचार्य के जो एक ऊँचे पाट पर, जिस पर एक आसन है, अपना दायां चरण लटकाये अत्यन्त अप्रमत्त भाव से आसीन हैं और मेरी प्रणति को धर्मलाभ-के-रूप में लौटा रहे हैं। चौड़ा ललाट, सांवला रंग, समन्दर से गहरे नेत्र, ऐसे नेत्र जिनके भीतर नेत्र हैं और जिन्होंने मोतियाबिंद के आघात सहे हैं – एक चश्मा मोटी फ्रेम का नाकोनक्श आध्यात्मिक, धवल चादर, मुखपत्ती में से झांकता सस्मित/अथक चेहरा और मन में सीधे गहरे उतर जाने वाली वाणी।

एक-एक शब्द सोचा हुआ। विवेक और मुनित्व की तुला पर तुला हुआ। कोई छुपाव नहीं है। सब कुछ खुला है/मन के तमाम रोशनदान उन्मुक्त हैं – कोई आच्छादन नहीं है उन पर। साफ-सुथरा जीवन, साफ-सुथरा मनन, सब कुछ विवेक के रजोहरण से प्रमार्जित और सम्यक्त्व की पुंजणी से निर्मल।

जो कहते हैं, उसे सौ टका जीते हैं और जो किया हुआ है, मानिये उसकी जड़ आचरण में पाताल तक है। बातचीत में कोई झुंझलाहट या चंचलता नहीं है। कोई सवाल कीजिये, अक्षुब्ध उत्तर लीजिए। निराकुलता का एक पूरा का पूरा दरिया लहरें ले रहा है। चारों ओर अखूट वत्सलता की कादम्बिनी (मेघ घटा) घिरी है और मैं उसकी शीतल छांव में मंत्रमुग्ध बैठा हूँ। तय है कि मुझे लगभग पन्द्रह दिनों तक उनसे जैन धर्म/दर्शन/समाज के विभिन्न पहलुओं पर एक बहुपत्ती बातचीत करनी है और अपने प्रिय पाठकों को उनके सड़सठ साला जीवन का अनुभावामृत पान कराना है। विशेषांक के सिलसिले में मैं उनके साथ किशतों में चौबीस घंटे बिताने की चित्तवृत्ति में हूँ।

12 जुलाई/रविवार को पहली उपनिषद् (बैठक) हुई। मेरे लिए यह एक बेहद उपयोगी अध्यात्म-सत्र था, सत्संग/समागम का एक अद्वितीय अवसर। मेरे मित्र गजेन्द्र सूर्या मेरे साथ हैं। उन्होंने मुझे नियमित लाने-ले-जाने का जिम्मा लिया है। वे साधु-की-चादर की तरह निष्कलंक और निर्मल मन से शख्स है। इन उपनिषदों में वे सर्वत्र, प्रतिपल/प्रतिपग मेरे साथ रहे हैं और उन्होंने देखा है कि मैंने किस उत्कण्ठा से प्रश्न किये हैं और आचार्यश्री ने किस विभोरता से उनके उत्तर दिए हैं। यदि उन सारे चर्चा क्षणों को लिखने बैठूँ तो कम-से-कम एक दो-तीन सौ पृष्ठों की किताब तो बन ही जाएगी। काम मुश्किल है, किन्तु करना तो है ही।

कई कठिनाइयां सामने हैं। टेप-रिकॉर्डर काम में ले नहीं सकता और कोई आशुलिपिक साथ में नहीं है। यद्यपि आचार्यश्री के बोलने में त्वरा नहीं है, वे रफ्त: रफ्त: बोलते हैं और मुझे मौका देते हैं कि मैं उन्हें नोंद लूँ, किन्तु मेरी भी सीमाएं, अतः कड़ी बीच-बीच में टूट रही है – जुड़ रही है और मैं अपने काम में जुटा हुआ हूँ। हाथ अविрам चल रहा है और आचार्यश्री अत्यन्त आश्वस्त स्वर में मुझे मेरी जिज्ञासाओं के समाधान दे रहे हैं।

कुल मिलाकर ये बैठकें मन-प्राण को ताजा किए हुए हैं और एक इस तरह की दीपमालिका मनोपटल पर संजोए हुए हैं कि कैसा भी अंधेरा आए मुझे निराश होने की जरूरत नहीं होगी। जैन धर्म/दर्शन के ऐसे कितने पक्ष हो सकते हैं, जिनकी तुलना हम आधुनिक विज्ञान के विविध इलाकों से कर सकते हैं – यह देखकर मैं हैरान हूँ।

मैं उनसे मुखातिब हूँ। लग रहा है मुझे कि यदि साधुमार्गी जैन संघ ने ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की कि आचार्य श्री के भीतर खुले ज्ञान-निर्झर जन-जन तक पहुंचे तो यह एक ऐसी भूल होगी जिसे सुधारा नहीं जा सकेगा, हम सब एक ऐसे अमृत-कुण्ड से वंचित रह जाएंगे जो आज के राह-भटके आदमी को सही दिशा दे सकता है - उसके तन-मन को ठण्डक पहुंचा सकता है।

जैनाचार्य नानालाल जी आग्रही बिलकुल नहीं हैं। वे सहज हैं। उन्हें कदाचित कभी ऐसा लगता है कि उनका पांव किसी भ्रम या त्रुटि पर है तो वे तुरन्त आत्मस्वीकृति या आत्मशोधन के लिए तैयार रहते हैं।

ऐसे कई मौके आए जब उन्होंने अपनी बात को बड़े आश्वस्त चित्त से रखा और दूसरों के विचारों को खूब धीरज से सुना। उनके सामने छोटा-बड़ा कुछ होता नहीं है।

घर का 'नाना' किसी की व्यर्थ की 'हां-हां' में नहीं पड़ता, जैसा कि आमतौर पर कुछ साधु सस्ती लोकप्रियता के लोभ में वैसा करते देखे जाते हैं। वे 'ना' कह सकते हैं एक बार, दो बार, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि वे 'हां' कभी कहते ही नहीं। सम्यक्त्व और सत्य के लिए उनके मन में प्रतिक्षण 'हां' है और मिथ्यात्व के लिए प्रतिपल 'ना'। वे साहसी हैं, सरल हैं, निर्गन्ध हैं।

उनकी गठरी में ग्रन्थ है, ग्रन्थियां नहीं हैं। मन को ग्रन्थियों से मुक्त करने के लिए उन्होंने 'समता-दर्शन' और 'समीक्षण-ध्यान' जैसी आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को आविष्कृत किया है। ये दोनों, भारतीय चिन्तन, विशेषतः अध्यात्म को उनका बहुमूल्य योगदान है। वे सत्यान्वेषी हैं और चाहे जो/चाहे जब उनके पास आये उसे सत्य की खोज में प्रवृत्त करने में रुचि लेते हैं। चुनौतियों को झेलने में उन्हें आनन्द मिलता है। सम्यक्त्व के लिए पराक्रम और संघर्ष नानालाल जी की एक विशिष्टता है। शाम के पांच बजकर पांच मिनट हुए हैं। वे कह रहे हैं अत्यन्त स्निग्ध टोन में - 'डॉक्टर साहब' (उनकी उस वात्सल्यमयी टोन को शब्दांकित करना संभव नहीं है)। मैंने आसन खींच लिया है और मैं उनके बिलकुल नजदीक हो गया हूँ। मन में नाना जिज्ञासाएं हैं। कई साधु-संतों से मिला हूँ, कई आचार्यों से भेंट हुई है, किन्तु यह अवधूत उन सबमें भिन्न है - जुदा है। अपनी जिदों पर अड़ा, किन्तु जिस रेखा पर ये खड़े हैं वह सुचिन्तित है, जल्दबाजी में निर्णीत नहीं है। वे ध्वनि विस्तारक या टेप-रिकॉर्डर का उपयोग नहीं करते, क्यों नहीं करते? इसके उनके अपने तर्क हैं। उनका मानना है कि इससे अग्निकायिक जीवों की विराधना होती है - जैनाचार से इनकी कोई संगति नहीं है।

दूसरी ओर उनकी यह दलील भी है कि ऐसा न करने से अपरिग्रह का अंकुश लगातार बना रहता है। कीर्ति की मूर्च्छा कम होती है और श्रोता सावधानी तथा मनोयोग से सुनता है। यंत्रिकरण की जटिलताओं से भी बचा जा सकता है। यंत्रों का कोई अंत नहीं है। आज एक को काम में लीजिए, कल दूसरा अनिवार्य हो उठेगा, परसों तीसरा दरवाजा खटखटायेगा और आपनी साधना भग्न या भुग्न हो जाएगी। आप कुछ कर ही नहीं पाएंगे, इसलिए यदि परेशानियों को कम करना हो तो मशीनों के दैत्य से स्वयं को बचाना चाहिए। मुझे लगा कि खादी पहनने के पीछे भी कदाचित् यही सिलसिला है - जवाहरलाल जी के मन में भी यही रहा होगा। मैं पूछ रहा हूँ कि आज से बावन साल पहले जब आपने दीक्षा ग्रहण की थी, तब के और आज के श्रावक में क्या फर्क आ गया है? बोले - बदलाव हुआ है। वात्सल्य घटा है। पहले गुप्तदान द्वारा बिना कोई अहसान जताये एक श्रावक दूसरे श्रावक की

मदद करने में गौरव समझता था, अब वैसा नहीं है। किञ्चित् है, किन्तु वह बात/वह रंगत नहीं है। शिथिलताओं से तो हर जमाने में जूझना पड़ा है। संघर्ष आज भी जारी है – जारी रखना चाहिए इसे ताकि प्रमाद से बचा जा सके और धर्म की मौलिकताओं को बचाया जा सके। साधुओं और श्रावकों की भूमिकाएं वस्तुतः अलग-अलग नहीं हैं। दोनों पूरक हैं। स्वाध्याय, सेवा और शुद्धाचरण में हम अपने युग की अनेक समस्याओं का समाधान तलाश सकते हैं।

13 जुलाई/सोमवार को उपनिषद् का तेवर/जायका बिलकुल जुदा था। सिलसिला वही था। प्यास और तड़प की किस्म भी वही थी, किन्तु मोड़ बदल गया था। बोले – हमें सात्त्विक ज्ञान के लिए लोगों में एक रचनात्मक जिज्ञासा जगानी चाहिए। लोग दुनियावी ज्ञान की ओर दौड़ रहे हैं, किन्तु इस भागमभाग में उनका सबमें बड़ा नुकसान हो रहा है सम्यक्त्व का मुट्टी से खिसकना। बोले – समता-दर्शन और समीक्षण-ध्यान दो ऐसे अस्त्र हैं, जिनसे हम आज के युग की विषमताओं के महाभारत को जीत सकते हैं। आचार्य जहावरलाल जी महाराज के कारण स्वाध्याय की वृत्ति लौटी है – पुनरुज्जीवित हुई है। स्वाध्याय को हमें अपने जीवन का अभिन्न अंग फिर बनाना चाहिए और ऐसे प्रयत्न करने चाहिए कि सामाजिक रागद्वेष घटे और साधु तथा श्रावक एक-दूसरे के नजदीक आएँ। वस्तुतः उन्हें एक-दूसरे की शोधक इकाइयों के रूप में विकसित होना चाहिए। 'समता-दर्शन' के विविध सोपानों की चर्चा करते हुए उन्होंने उसके स्वरूप पर व्यापक प्रकाश डाला।

14 जुलाई /मंगलवार को समता-दर्शन पर चर्चा हुई। बोले – हमें समता-दर्शन के इक्कीस सूत्रों का पालन करना चाहिए। मैंने अनुभव किया है कि सामान्य बातों में से ही विशिष्टता आविर्भूत होती है। इन सूत्रों में से गुजरते हुए हम एक तरह की सामायिक या समाधि में से गुजरते हैं। श्रावक को हक है कि वह किसी भी शिथिलता को चुनौती दे, किन्तु दे उसे दूर करने के लिए – किसी को नीचा दिखाने के लिए नहीं। चुनौती का स्वरूप रचनात्मक हो, उपगूहनात्मक हो और सद्भावनापरक हो। श्रावक की हैसियत इतनी बड़ी है कि यदि वह आगमोक्त कसौटियों का जानकार है तो आचार्य तक को चुनौती दे सकता है। इन/ऐसी परम पावन चुनौतियों के कारण ही साधुमार्ग निष्कलंक बना हुआ है। हम एक-दूसरे को गलत नहीं समझते, बल्कि एक-दूसरे को परस्पर उपकारक इकाई मानते हैं। दृष्टि ऐसी ही होना चाहिए – विकास करना चाहिए इस तरह के उदार और सहिष्णु व्यक्तित्व का।

जब प्रसंगवश प्राकृत भाषा और साहित्य की बात चली तो बोले – उनका भरपूर प्रचार होना चाहिए। प्राकृत सरल है। उसका उच्चारण और वाक्य-विन्यास सरल है। उसे कुछ ही दिनों में सीखा जा सकता है। संघ इनके लिए काम कर रहा है। वास्तव में यदि जैनधर्म को जानना है, उसकी तमाम गहराइयों में तो प्राकृत सीखे बिना कोई रास्ता नहीं है। जब साधुमार्ग के साधुओं और श्रावकों के परस्पर संबंधों की चर्चा चली तो बोले – साधुमार्ग बहुत पुराना है। जितना पुराना णमोकार महामंत्र है, उतना पुराना है साधुमार्ग। साधुमार्ग में गुण और कर्म को महत्त्व दिया गया है। उसमें गुण-पूजा है, व्यक्ति-पूजा नहीं है। इसी तरह श्रावक हो या साधु, कर्म से ही उसे जाना जा सकता है। भगवान महावीर का वह कथन कि कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही शूद्र – जन्म से कोई कुछ नहीं होता। इसी तरह कर्म से ही श्रमणोपासक की पहचान बनती है, वह जिस वंश में जन्मता है, उससे उसकी पहचान नहीं बनती।

15 जुलाई/बुधवार को धर्म और विज्ञान पर चर्चा हुई। बोले - शास्त्र की दृष्टि में जो विज्ञानवान है, वह आत्मा है और जो आत्मा है वह विज्ञानवान है। विज्ञान वस्तुतः आत्मा का मूलगुण है। कहीं कोई छलावा नहीं है, सब कुछ अनेकान्तात्मक है। हमारा लक्ष्य आत्मा का शुद्ध स्वरूप है तदनुसार ही हमारी सम्पूर्ण साधना है। हमें समझना चाहिए कि धर्म और विज्ञान परस्पर पूरक हैं, वे एक-दूसरे से संघर्षरत नहीं हैं। असल में जब हम खोजना शुरू करेंगे, तभी कुछ पायेंगे। जैन धर्म विज्ञान का अखूट खजाना है। हम अभागे हैं कि हमसे बारबार इसकी कुंजी गुम जाती है। हमें इस खजाने का न सिर्फ खुद उपयोग करना चाहिए वरन् सारी दुनिया के लिए उसे खोल देना चाहिए।

16 जुलाई/गुरुवार को तीर्थकरों के अवदान पर विचार हुआ। मैंने कहा - तीर्थकर अपने युग के सर्वश्रेष्ठ परमाणुविद् थे। उन्होंने इसे अपनी साधना में दिगम्बर (बिना किसी आवरण के स्पष्टतः) देख लिया था। संवर-निर्जरा की प्रक्रियाएं बिना परमाणु-दर्शन के तीव्रतर नहीं हो सकती। बोले - तीर्थकरों की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने पूर्व तीर्थकरों को न कभी पढ़ा और न कभी सुना; बल्कि सृष्टि के निगूढ़ रहस्यों को तप-साधना से जाना तथा जानने के लिए स्वयं के जीवन को प्रयोगशाला का रूप दिया। पदार्थ की जो परिभाषा आज विज्ञान दे रहा है, वह तीर्थकर सदियों पहले दे चुके हैं। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' और 'गुणपर्यवद्द्रव्यम्' के रहस्य को समझ लेने पर पदार्थ की गहराइयों में उतरने में कोई कठिनाई नहीं है। आज का वैज्ञानिक यन्त्रों और औजारों में उलझ गया है; आत्मतत्त्व उसकी मुट्ठी से खिसक गया है। हमारी पारिभाषिक शब्दावली का यदि एक अनासक्त और विश्लेषण किया जाए तो हम पायेंगे कि धर्म आज भी विज्ञान से दो कदम आगे है। विज्ञान उन्हीं दार्शनिक तथ्यों की पुष्टि कर रहा है, जिन्हें आज से सदियों पहले धर्म ने स्थापित किया था। सापेक्षता शुद्ध ज्ञान की माता है। वे अल्बर्ट आइन्स्टाइन का नाम लेते हुए बोले - विज्ञान ने इसे विलम्ब से खोजा और अपनाया; किन्तु जबसे भी उसने इसे अपनाया है, उसकी जययात्रा अधिक सफल-सार्थक सिद्ध हुई है। पता नहीं अब क्यों हम इस स्वस्थ चिन्तन-पद्धति को विस्मृत करना चाहते हैं? ध्यान रखिए, जैनाचार्यों ने भौतिकी, जैविकी, गणित जैसी जटिल/सूक्ष्म विद्याओं पर भी काफी गहरा विमर्श किया है।

छह दिन के अन्तराल के बाद आज फिर गजेन्द्र सूर्या आचार्यश्री के पड़ाव पर ले गए हैं। 22 जुलाई/बुधवार है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर चर्चा कर रहा हूं। पुनर्जन्म एक जटिल समस्या है। कुछ पुनर्जन्म को मानते हैं, कुछ नहीं मानते; किन्तु जो आत्मा का अस्तित्व मानते हैं उन्हें तो पुनर्जन्म मानना ही होता है। मैंने पूछा कि इस संबंध में जैनधर्म की क्या धारणा है?

बोले - पुनर्जन्म का सीधा-सादा अर्थ है एक शरीर को छोड़कर अगले शरीर में प्रवेश। जैनधर्म का 'उत्पाद व्यय, ध्रौव्य' सिद्धान्त इससे जुड़ा हुआ है। शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य; पर्याय अनित्य है, द्रव्य नित्य है। संवेदना का विश्लेषण करने पर भी पुनर्जन्म को जाना जा सकता है। पूर्व-स्मृति से भी इसकी पुष्टि होती है। शास्त्रों में जाति-स्मरण की अनेक घटनाओं का विवरण आया है; वर्तमान में भी इस तरह की सैकड़ों घटनाएं देश-विदेश में हुई हैं/होती रहती हैं। परामनोविज्ञान ने भी पुनर्जन्म के समर्थन में तथ्यों का आकलन किया है। असल में सफलता की अगली कुंजी तत्त्वश्रद्धान है - उसके मिलने पर पुनर्जन्म स्वतः सिद्ध दिखायी देता है। ध्यान की प्रक्रिया में से होकर भी पुनर्जन्म की सत्यता सिद्ध होती है। चूंकि सूरज डूबने को था, अतः पटाक्षेप हुआ और चर्चा को दूसरे दिन के लिए रोक लिया गया।

23 जुलाई/गुरुवार/शाम लगभग डेढ़ घंटे तक कर्मसिद्धान्त पर चर्चा हुई। चर्चा कुछ गहरी और तकनीकी थी। आचार्यश्री बोले - डॉक्टर साहब, सम्पूर्ण जैनदर्शन कार्य-कारण पर टिका हुआ है। यहां किसी तर्कहीन तथ्य को स्वीकार नहीं किया गया है। कर्मसिद्धान्त की आधार-भूमि कार्य-कारण-नियम (लॉ ऑफ कॉजेशन) है। इससे भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त पुष्ट होता है। जैन कर्म सिद्धान्त 'जैसा बोना, वैसा काटना' तक ही सीमित नहीं है - वह इससे बहुत आगे और गहरे गया है।

24 जुलाई/शुक्रवार को 'साधु और साधुमार्ग' टॉपिक छिड़ गया। आचार्यश्री बोले - मैं 'साधु' शब्द को विशेषण-रूप में ही लेता हूं। साधु से साधुत्व बनता है। साधुत्व अच्छाइयों, सुकृतों और आदर्शों का महायोग है। वह श्रमणोपासक के लिए मानक है, आदर्श है।

मैं द्रव्यसाधुत्व के पक्ष में तो हूँ, किन्तु उसे भावसाधुता का साधन-मात्र मानता हूँ। द्रव्यसाधुत्व साध्य नहीं है, साधन है; साध्य भावसाधुत्व ही है। साधना में जब तक अविकलता नहीं बनती, कुछ घटित नहीं होता। इसके लिए आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान जरूरी है। आलोचना वर्तमान का प्रमार्जन है, प्रतिक्रमण अतीत का धारावाहिक/सावधान अवलोकन और प्रत्याख्यान अनागत में दृढ़तापूर्वक कदम उठाते जाने का त्याग-संकल्प है। बुनियादी लक्ष्य समत्व है। जब तक हम विषमताओं और ग्रन्थियों से मुक्त नहीं होते, सत्य के नजदीक नहीं पहुंच सकते। समत्व तक पहुंचने या सम में उतरने का माध्यम है द्वन्द्वमुक्ति। जैसे-जैसे हम समत्व की गहराइयों में गोते लेते हैं, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर हमारी मूर्च्छा घटती जाती है। साधु वह है जो समता से साक्षात्कार करे। समत्व और सम्यक्त्व एक ही है। दोनों एक-दूसरे में गड्डमगड्ड हैं, एक को पाने में दूसरे की प्राप्ति निश्चित है। शिथिलाचार और क्रियोद्धार का संक्षिप्त इतिहास बताते हुए उन्होंने कहा - साधुमार्ग ने शिथिलाचार का कड़ा मुकाबला किया है, यही कारण है कि यह आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है और जैनधर्म की मौलिकताओं की अचूक रक्षा कर रहा है।

25 जुलाई/शनिवार को साधुमार्ग की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा - मैं तो अपने साधु-साधिव्यों को भाई-बहन मानता हूँ। मेरे यहां छोटे-बड़े का कोई भेद नहीं है। एक संस्मरण सुनाते हुए बोले - एक बार जब मैं सीढ़ियां चढ़ रहा था; एक साधु ने जो मुझे पहचान नहीं पाया पूछा - 'कौन है?' मैंने कहा - 'नाना'। 'आचार्य' मैंने नहीं कहा, 'नाना' कहा। आचार्यत्व परिग्रह है। मैं इसे सहज लेता हूँ, इसे अहंकार की तरह पत-दर-पत जमने नहीं देता। साधुमार्गी संघ में छोटा-बड़ा नहीं है। सब समान है।

साधुमार्ग की विशेषताओं को संक्षेप में बताते हुए उन्होंने कहा - साधुमार्ग निष्कंटक नहीं है; वह दिखता सरल है, है कठिन। मर्यादा-पालन, अनुशासन, आत्मानुसंधान, निःशंक/स्वतंत्र चिन्तन, अनवरत स्वाध्याय, सत्य की खोज, शिथिलाचार का विरोध और उससे बचाव, सम्यक्त्व में निश्चलता, सादगी, सारल्य, निष्कपटता, प्रजातान्त्रिक जीवन-पद्धति, राष्ट्रीय दृष्टि, लोकहित के लिए कटिबद्धता, रचनात्मक परिवर्तन के लिए अनुकूलता, उदारता, विनय, तितिक्षा, संगठन, समन्वय, समत्व, विश्वमैत्री इत्यादि साधुमार्ग के मूल आधार हैं। समता-दर्शन उसकी खास बुनियाद है। व्यक्ति और समूह में युगयुगों से पड़ी ग्रन्थियों को खोलना इसकी आरम्भिक प्रक्रिया है। खोलना और गलाना, गलाना और निकाल फेंकना इस प्रक्रिया के प्रमुख चरण हैं।

26 जुलाई/रविवार और 28 जुलाई/मंगलवार को अधिक चर्चाएं नहीं हुईं। किन्तु एक महत्त्वपूर्ण वाक्य आज/इस क्षण भी

मन पर टिका हुआ है - विकास की ओर हमारा ध्यान है। धर्म में वय की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व दिया गया है।

फिर एक लम्बा कालान्तर (गैप) आ गया। 'साधुमार्ग विशेषांक' की तैयारी चल रही थी। प्रेस को मैटर (मुद्रण सामग्री) देना था; अतः मैंने पन्द्रह दिनों से कुछ अधिक की छुट्टी ले ली और फिर 19 अगस्त/बुधवार को उनसे मिला। इस बार कषाय पर चर्चा चली। समीक्षण-ध्यान में इन पर जुदा-जुदा विचार होता है, ताकि व्यक्ति के भीतर जो सघन ग्रन्थियां अवस्थित हैं, उन्हें खोला जा सके। बोले - कषायें बंधन में डालने वाली दुष्प्रवृत्तियां हैं। सरल शब्दों में, आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम का नाम कषाय है। आत्मा के स्वरूप का घात करने के कारण कषाय सबमें बड़ी हिंसा है। मिथ्यात्व सबमें बड़ी कषाय है। आसक्ति की तीव्रताओं की दृष्टि से कषाय के चार भेद हैं - अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन। क्रोध, मान, माया, लोभ से गुणा करने पर भेद सोलह हो जाते हैं। जैसे ही चर्चा ने शास्त्रीय मोड़ लिया, मैंने कहा - आप तो कषाय का अर्थ बताइये और बताइये कि वह अहितकर क्यों है? बोले - क्रोध आदि कलुषताएं कषाय हैं। चूंकि ये आत्मा के स्वभाव को 'कष'-ती हैं, अर्थात् उसकी हिंसा करती हैं, इसलिए इन्हें कषाय कहते हैं।

इसी संदर्भ में प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग बंधों पर भी चर्चा हुई। बोले - सब कुछ वैज्ञानिक है। जैनदर्शन में एक भी शब्द फिजूल नहीं है। वहां सब कुछ सार्थक और प्रासंगिक है। निर्मल अन्तर्दृष्टि चाहिए; उसके बिना कुछ नहीं होगा। मेरे द्वारा पुनः प्रस्तुत 'समीक्षण-ध्यान' व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी है। जब क्रोध, मान, माया और लोभ का समीक्षण करते हैं तब मन की ग्रन्थियां आपोआप खुलने लगती हैं। चित्त निर्ग्रन्थ होने लगता है। राग-द्वेष गलने लगते हैं। राग-द्वेष इस तरह कुछ अनन्य हैं कि राग में द्वेष और द्वेष में राग गर्भित हुआ है। किसी एक को छोड़ने पर दूसरा अपने आप विदा हो लेता है।

20 अगस्त/गुरुवार को आचार्यश्री ने समीक्षण-ध्यान को ब्यौरेवार समझाया।

21 अगस्त/शुक्रवार को तप पर चर्चा हुई। बोले - जैन तप भेद-विज्ञानमूलक है। यदि वहां यह दृष्टि नहीं है तो तप कितना ही क्यों न हो, व्यर्थ और निष्फल है। तप तप है, उसका विज्ञापन नहीं किया जाता। तप सम्यक्त्व के लिए की गई उत्कट साधना का नाम है। मैं तप के प्रचार पर, उससे संबंधित जुलूसों और शोभायात्राओं पर बराबर अंकुश रखता हूं। वह साधु ही क्या, जो सत्य कहने में झिझक अनुभव करता हो। मैं तो श्रावक का भी उपकार मानता हूं। वे मुझे संयम में सावधान रखते हैं। जब कोई श्रावक मुझे मेरी त्रुटि बताता है, तब मैं उस त्रुटि की आलोचना करता हूं, उस पर ध्यान देता हूं और बताने वाले के प्रति कृतज्ञता अनुभव करता हूं। दोष जानने चाहिए ताकि उन्हें यथासमय दूर किया जा सके। बोले - दवाई तो हम लेते हैं, किन्तु बाद को प्रायश्चित्त अवश्य करते हैं। साधुमार्गी संघ में साधु-साध्वी में कोई भेद-भाव नहीं है। संयम के धरातल पर सब बराबर हैं। मैं उन्हें गुरु-चेले की नजर से कभी नहीं देखता, बल्कि भाई-बहन मानता हूं। मैं अपने कार्य में लगा रहता हूं। मुझे यदि कोई योग्य साधु मिल जाए तो मैं पूरी तरह से आत्मोन्नयन में लग सकता हूं। आत्मशुद्धि ही साधु का सर्वस्व है। यही उसका मूलधन है। वह कम या नष्ट होता है तो फिर कुछ बचा नहीं रहता।

वैसे ही, क्रोध पर अपने विचार प्रकट करते हुए बोले - क्रोध एक किस्म की विवेक-शून्यता है। मेरे पिता में क्रोध अधिक था, मां में बहुत कम था। क्रोध का मूल कारण अज्ञान या गलतफहमी है। क्रोध छुतहा रोग है; इससे बचना चाहिए। मौन और

क्षमा इसके मुख्य उपाय हैं। ईश्वर के स्वरूप पर चर्चा चली तो बोले – ईश्वर क्या है? दुनिया के सारे प्रकाश यदि जोड़ दिए जाएं तो जो जोड़ बनेगा, उसका नाम ईश्वर है। ईश्वर प्रकाश का कैवल्य है। ज्ञान और प्रकाश पर्याय हैं। दोनों दो अलग अस्तित्व नहीं हैं। खादी की बात चली तो बोले – आचार्य गणेशलाल जी महाराज खादी धारण करते थे। आचार्य जवाहरलाल जी महाराज ने उसे संघ के लिए अपरिहार्य बनाया। खादी की पृष्ठभूमि पर अहिंसा और राष्ट्रीयता दोनों हैं; पावनता भी है। मैं/हमारे तमाम साधु-साध्वी खादी का ही उपयोग करते हैं। यह त्याग का प्रतीक भी है।

इस तरह कई किशतों में उनसे विविध विषयों पर 24 घंटे बातचीत हुई। इतनी कम जगह में उस सबको समेटना संभव नहीं। फिर भी इन अंशों में उनका अंतरंग तो झलक ही आया है – छलक-छलक पड़ा है। मुझे विश्वास है इन बिन्दुओं को स्वाध्याय की प्रक्रिया में सिन्धुओं में अवश्य परिवर्तित किया जाएगा।

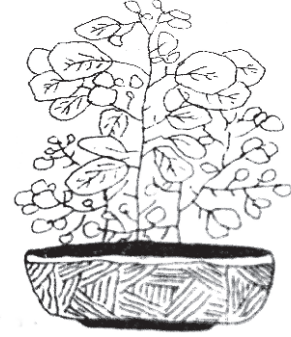




सुक्ति-गंगा



विषमता मनुज को विकृत करती है। वह विकृत मन से अपना व्यवहार प्रदूषित करता है तथा इस तरह विकृति का समाजीकरण हो जाता है।



सूक्ति-गंगा

स्वयं करना होगा

अपनी आत्मा की मलिनता धोने और उसे संवारने का काम स्वयं को करना होगा। परमात्मा ने मनुष्य-देह में रहकर विकास का जो मार्ग बताया है। उसके अनुरूप यदि मानव चलने की तैयारी कर ले और अपने कार्य कलापों को तदनु रूप ढाल ले तो वह अपने मन की गति को भी एकाग्र बना सकता है तथा अपनी आत्मा के मूल रूप को पवित्र बनाकर संवार सकता है।



फल मिलता ही है

धैर्य कभी नहीं छोड़ना चाहिए। कर्तव्य-निष्ठा से सत्य कर्म करने वाले को आपत्तियां आने पर भी सफलता अवश्य मिलती है। निष्काम भाव से कर्तव्य-पालन करने वाले को सर्वतोमुखी फल जरूर मिलता है, जिससे वह उन्नति के शिखर पर पहुंच सकता है।



दूरदृष्टि

सूक्ष्म निरीक्षण दूरदर्शिता का द्योतक है। वह इन्सान को आपत्तियों से बचा लेता है।



कोई विरल ही

अभियान की अवस्था जब अत्यन्त दृढ़ीभूत बनती है, तब उसे लचीला बनाने में कोई विरल व्यक्ति ही कामयाब हो सकता है।



जितनी प्यास, उतना जल

जिस प्रकार जितनी तीव्र प्यास होती है, जल उतना ही शान्तिदायक होता है; ठीक वैसे ही जीवन की अधार्मिकता के घनत्व

के अनुसार गुण-ग्राहकता की वृत्ति भी गहरी होनी चाहिए। अधार्मिकता का अन्त गुण ग्राहकता से ही संभव है।



प्रशंसा: जहरीला सांप

प्रशंसा जहरीले सर्प के समान है। अगर इसका जहर तुझे चढ़ गया तो तू नष्ट हो जाएगा।



क्रोध/अभियान

क्रोध की अपेक्षा अभिमान की अभिव्यक्ति को समझने के लिए अधिक पैनी दृष्टि की आवश्यकता है, किन्तु क्रोध को देखते ही प्रज्ञा समीक्षण दृष्टि के साथ इतनी सक्षम हो जाती है कि फिर मान को देखने में सुगमता आ जाती है।



संघर्ष में भय-मुक्त

जो मनुष्य संघर्ष से भय खाता है और उससे अलग रहना चाहता है, वह अपनी कायरता को पुष्ट करता है। संघर्ष कोई बुरी वस्तु नहीं है। वह जीवन-विकास का मुख्य साधन है। जिस जीवन में संघर्ष नहीं है, उसे जीवन नहीं कहा जा सकता।



यह सोचो

‘दुनिया क्या देख रही है’, इस पर विचार मत करो। ‘तुम क्या देख रहे हो’ इसी का विचार करो। ‘इस काम से दुनिया क्या कहेगी’ यह न सोच कर ‘मेरी पवित्र आत्मा क्या कहेगा’ यह सोचो।



नया रास्ता भी संभव

इन्सान की बुद्धि नदी के पानी की तरह प्रायः अपने दायरे में घूमा करती है, कभी-कभी तूफान आने पर नदी का पानी इधर-उधर फैलकर नई नदी भी तैयार करता है। वैसे ही मनुष्य की बुद्धि भी कभी-कभी नया रास्ता/नई वस्तु का निर्माण करती है।



दूसरा पक्ष भी

सांसारिक जीवन में रहते हुए कर्तव्य के एक ही पक्ष को नहीं पकड़ना है कि बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने से ही कर्तव्य की इतिश्री हो जाएगी। इसी कर्तव्य का दूसरा पक्ष यह भी है कि आप अपने एवं अपने परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति आन्तरिक जागरण के कर्तव्य को भी समझें।



विष-के-झाड़

विष-वृक्ष अनेक प्रकार के होते हैं, यथा - अफीम, आक, धतूरा आदि। ये विष-वृक्ष तो सहज ही अभिव्यक्ति पा जाते हैं, किन्तु कई ऐसे विष-वृक्ष होते हैं, जिनका ऊपरी हिस्सा तो मनोहर/ललित लगता है, किन्तु परिणाम उनका प्रतिकूल होता है।

ऐसे विष-वृक्ष की तुलना मान से की जा सकती है।



आडम्बर अर्थात् दम्भ

जिसमें जितनी सजावट होगी, उसमें उतना ही नकलीपन होगा। आडम्बर दम्भ का द्योतक है। जिसे वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, वही आडम्बर को पसंद करता है।



सफलता की चाबी

दृढ़ निश्चय एवं तदनुसार आचरण ही सफलता की कुंजी है। किसी भी तरह की आपत्ति से लेशमात्र भी नहीं घबराना चाहिए। आपत्ति को आपत्ति न मानकर जीवन विकास की साधन-सहचरी मानना चाहिए।



मन को बनाएं निश्चल

धर्म को जीवन में रमाने के लिए मन को पवित्र बनाना होगा, जिसकी पवित्रता का अचूक/अमोघ साधन है तप। तप के बाद बाह्य/आभ्यन्तर रूपों की आराधना करते हुए मन को निश्चल एवं शुद्ध बनाया जा सकता है।



सदाचार: तीक्ष्ण छैनी

सदाचार एक ऐसी तीक्ष्ण छैनी है, जो प्रतिपक्षी आचरण का समूल उन्मूलन कर देती है अर्थात् बुरे आचरण को समूल नष्ट कर देती है। मानव-जीवन के उन्नयन के लिए यह एक निरबद्ध अस्त्र है, जिसे दूसरे शब्दों में अशस्त्र भी कहा जा सकता है।



अनासक्त बनें

चित्त में अनासक्ति की भावना रहनी चाहिए। यदि आकांक्षाएं पैदा होती हैं तो साधु-जीवन सुरक्षित नहीं रह सकेगा। जिन विषयों या पदार्थों का परित्याग किया है, उनके प्रति साधु को नासिका-श्लेष्म की तरह अनासक्त रहना चाहिए।



विकार की पहचान

संकुचित विचार-धारा द्वेषभाव की प्रतीक है। बड़े-बड़े नेता मुझसे मिलें, मेरे भक्त बनकर मेरा यशोगान करें, ऐसी भावना द्वेष-युक्त विकारी मन की पहचान है।



केन्द्र-बिन्दु

आजकल अधिकांश मनुष्यों का केन्द्र बिन्दु जड़ बना हुआ है। वह बाह्य भौतिक रूप को ही प्राप्त करने में अपना श्रेय समझते हैं। आज के इंसान में वास्तविक प्रेम का संचार केन्द्र बिन्दु के परिवर्तन से ही हो सकता है, मगर वह शिक्षित एवं प्रतिष्ठित कहे

जाने वालों के अधीन है।



कल्पतरु से बढ़कर

सदाचरण कल्पतरु से भी बढ़कर है। स्व-पर मनोवांछित अभीष्ट सिद्धि की उपलब्धि कराने वाला है। शर्त यही है कि वह वास्तविक हो, आत्म-प्रसूत हो, अध्यात्म के धरातल पर हो। इसका वर्गीकरण हो सकता है, टुकड़े नहीं हो सकते। कक्षाएं बन सकती हैं, विभेद नहीं, अर्थात् शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार इसे अपनाया जा सकता है।



विषमता-का-विष

विषमता मनुष्य के मन को विकृत बनाती है। मनुष्य विकृत मन से अपना व्यवहार विकृत बनाता है और इस तरह विकृति का समाजीकरण होने लगता है।



निर्जीव श्रम

धृति-सहित कृति कला का रूप ले लेती है; जबकि धृति-रहित कृति निर्जीव परिश्रम मात्र है।



वचन-दर्पण

वचन एक दर्पण है। चतुर पुरुष वचनों के अन्दर इन्सान का आन्तरिक प्रतिबिम्ब देख सकते हैं।



सफल संस्थाएं

जितनी भी साम्प्रदायिकता से अनुप्राणित संस्थाएं हैं, वे प्रायः साम्प्रदायिक के अलावा निर्लक्ष्य होती हैं। निश्चित लक्ष्य न होने से वे प्रतिगामी बनी रहती हैं। प्रगतिशील संस्थाएं निश्चित लक्ष्य को लेकर चलती हैं, अतएव वे सफल संस्थाएं कही जा सकती हैं।



जीवन यात्रा

जीवन के यात्रा काल में किसी भी इन्सान को पापी या दुष्ट, कुपात्र या नीच कहना अथवा समझना, स्वयं को वैसा बनाना है। प्रत्येक इन्सान के साथ प्रेमपूर्वक पेश आना, उसकी स्थिति, समय की स्थिति एवं उस स्थान के वातावरण को देखकर सहानुभूतिपूर्वक पवित्र एवं व्यापक वायुमण्डल का निर्माण करना जीवन-यात्रा का कर्त्तव्य होना चाहिए।



विषमता के विस्फोट

विषमता सम्पन्न और विपन्न दोनों को अशान्त बनाती है। सम्पन्न इस कारण अशान्त रहता है कि 'क्यों न वह सारी सम्पत्ति

को केवल अपने और अपनों के लिए संचित कर ले' – विपन्न की अशान्ति का कारण स्पष्ट होता है कि वह अपने पेट की आग को भी बुझाने में सफल नहीं होता है। यह अशान्ति ही फैलती हुई अलग-अलग स्थानों और स्तरों पर विविध रूपों में विस्फोट करती रहती है। विषमता के ये विस्फोट मनुष्य जाति की श्रेष्ठ प्रगति को विनष्ट करते हैं।



समता दर्शन

समता दर्शन गुण और कर्म की दृष्टि से किए गए मनुष्य जाति के वर्गीकरण में विश्वास करता है। गुण और कर्म का वर्गीकरण चरित्र की प्रेरणा देता है और इस मान्यता से मनुष्य चरित्र सम्पन्नता की ओर आगे बढ़े – समता का सही तात्पर्य यही है।



ऊपर उठकर

आध्यात्मिकता की ओर गति करने पर स्पष्ट पाथेय समता है। समता का सही अर्थ जीवन में स्वार्थवादिता एवं पदार्थवादिता से ऊपर उठकर सर्वजनहित की कल्याण-कामना में आत्मविकास है।



सीखें सूरज से

सूर्य समभाव से अपनी गति करता है। बादलों की विषमता से वह विचलित नहीं होता। वास्तव में यह भूतल समता की दृष्टि से चल रहा है। फिर मानव ही क्यों ममता से दूर हटता जाता है?



भाषा अंशमात्र

भाषा ज्ञान पूर्ण शिक्षा का रूप नहीं ले सकता है। वह तो स्वानुभूति व्यक्त करने के साधनों में से अनुकरणीय साधन का एक अंशमात्र है।



कर्त्तव्य

फल को देखने वाला आगे नहीं बढ़ सकता; कर्त्तव्य को देखने वाला ही आगे बढ़ सकता है।



उस वक्त

जिस समय विचारों का तूफान आता है, उस वक्त सहसा किसी भी कार्य को करना अनर्थकारी होता है। उस समय ज्ञान की मात्रा विलुप्त हो जाती है।



सच्ची परिभाषा जीवन की

जीवन की असली परिभाषा मृत्यु को समझना है। जीवन-छोर मृत्यु को महोत्सव मानना ही जीवन के वास्तविक सार को

समझना है। यह जीवन अतुल-अगाध है, अजर-अमर है, परन्तु इस पांच-सात फुट की देहमात्र को जीवन मानना हमारे ज्ञान का बौनापन है। यही कारण है कि हम सत्य से अतीव दूर हैं।



ग्रन्थियां

संसार में ग्रन्थियां, गठानें कई प्रकार की हैं। कपड़ा, रस्सी आदि की ग्रन्थियां सहज रूप से खोली जा सकती हैं। इनकी अपेक्षा बारीक तन्तुओं से बने जाल की ग्रन्थियां खोलना अधिक कठिन होता है। उनकी अपेक्षा भी बांस आदि वृक्षों के मूल की ग्रन्थियां अति दुरुह होती हैं। इनका विमोचन सहसा आसान नहीं। इन सबसे भी बढ़कर मिथ्यात्व की ग्रन्थि है।



ज्ञान/चरित्र

ज्ञान तो पण्डितों में बहुत है, पर उन्हें कौन पूछता है? ज्ञान ही श्रेष्ठ होगा तो वे पण्डित साधुओं की तरह पूजनीय बन जाते; पर ऐसा नहीं। वस्तुतः ज्ञान की नहीं, चरित्र की आवश्यकता है। वह सबकुछ है। यह ज्ञान का अपलाप है। इससे भी बचना होगा। ऐकान्तिक कथन प्रगाढ़ बंध का कारण बनता है।



स्वल्प दुर्गुण

अमरबेल का छोटा-सा टुकड़ा भी यदि वृक्ष पर रह जाता है तो वह पूरे वृक्ष को सुखा डालता है। स्वल्प दुर्गुण भी अमरबेल की तरह जीवन के सद्गुण रूपी वृक्ष को सुखा डालता है।



कण-कण खिल उठेगा

अमृत की घूंट को पाने का अभिलाषी यदि अमरता के पावन-पुनीत पथ को पाना चाहता है तो उसका पुरुषार्थ अध्यात्म पथ की ओर सतत् गतिवान होगा। उसे परम पद अवश्य मिलेगा। उसके जीवन का कण-कण खिल उठेगा।



नई तालीम

नई तालीम दी जाए, मगर उसका नक्शा वास्तविक एवं स्थायी शान्ति का हो। बुनियादी आवश्यकताओं के साधनों का केन्द्रीकरण होकर अन्न-वस्त्र आदि जरूरी चीजों में स्वावलम्बी एवं स्वतन्त्र हो जाएं, फिर भी जब तक प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे का अंग है, एक कुटुम्बी है, एक ही प्रकृति-मात्रा की सन्तान-सहोदर-भाई है और उनके साथ मेरा वही कर्तव्य है जो कि स्वशरीर के साथ है, ऐसी विश्वव्यापी एकात्मियता की शिक्षा नई तालीम के नक्शे में मुख्यतः नहीं रखी जाएगी, तब तक वर्ग-विहीन, शोषण-मुक्त एवं स्थायी शान्ति-युक्त समाज की स्थापना नहीं हो सकेगी।



अन्तर्दृष्टि जगाएं

विषमता का अन्त समता से होगा। यदि विषमताएं दूर करनी हैं तो समता को अपनाना होगा। यदि समता को अखण्ड रूप

देना है तो समता दर्शन के साथ जीवन का सम्पर्क साधना/बनाना होगा। इस सबके लिए अन्तर्दृष्टि जगानी होगी।



ग्रन्थियां खोलें

धर्म-चक्षुओं की नहीं, अन्तर्दृष्टि ही यथार्थ स्वरूप देख पाएगी, जिसके प्रभाव से मस्तिष्क की जटिल ग्रन्थियां खुल सकेंगी। ग्रन्थियां खुल जाने से मन-मस्तिष्क साफ हो जाएंगे। इनके स्वच्छ धरातल पर तब समता-दर्शन का स्वरूप साकार हो सकेगा।



छोटी-छोटी बातें

छोटी-छोटी बातों को लेकर पद-लिप्सा से कोई गुट या पार्टी बनाना जनता के साथ धोखा है। यह देश या समाज की सुव्यवस्था की ओट में देश और समाज के प्रति द्रोह है। वास्तविक रूप से जन-सेवा करने वाले ऐसा कभी नहीं सोचते। उनके तन, मन और धन व्यर्थ के कार्यों में नष्ट नहीं होते। वे व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे पार्टीबाजी में नहीं पड़ते। वे सही रूप से कर्तव्य को सामने रख कर चलते हैं, न कि निजी या व्यक्तिगत स्वार्थ को।



बारीक भूसे की तरह

जो कुछ भी बाह्य नेत्रों से दिखाई दे रहा है, वह तो उड़ते हुए निस्सार बारीक भूसे की समान है; अतः इसी में उलझ जाना अमूल्य जीवन को व्यर्थ गंवाना है, जो कि बुद्धिमान मनुष्य के बहुत विचारणीय है। इस विषय पर वस्तुस्थिति अवर्णनीय है, पर वह अनुभवगम्य अवश्य है। यदि यह अनुभव सही मायने में हो जाए तो उसे चिन्तामणि रत्न की उपमा दी जा सकती है।



भयंकर पाप

छलना भयंकर पाप है। इससे सभी तरह की हानियां हैं। आन्तरिक जीवन पर पर्दा पड़ता है, विकास-मार्ग खत्म होता है, विकसित जीवन की कड़ियां कुण्ठित होकर दब जाती हैं, मलिनता का साम्राज्य छा जाता है, मानव मानव के रूप में न रह कर दानव/पशु के रूप में चरण रखता है।



मशीन न बनें

जीवन की मशीनवत् गति से हाथ में कुछ भी नहीं रह पाएगा। सम्यग्ज्ञान के साथ सही लक्ष्य पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए शुद्ध आचरण से जो उपलब्धि हो सकती है, वह उपलब्धि दिव्य होगी। उसमें जो सतत्त्व प्राप्त होगा, वह श्रेष्ठ स्थिति पर पहुंचाने वाला होगा।



सही दिशा

जीवन की रेखा पलटना स्वयं के हाथ है। जैसा भी जीवन बनाना चाहें, बनाया जा सकता है। पर वैसी अटूट दृढ़तर श्रद्धा की

नितान्त आवश्यकता है। इसके लिए ज्ञान की शक्ति भी सही दिशा की ओर होनी चाहिए।



क्रम एक, छोर दो

व्यक्ति और विश्व एक ही क्रम के दो छोर हैं। व्यक्ति के जीवन से प्रारम्भ हुई समता विश्व-शान्ति के रूप में विकसित होती है।



एक किरण काफी

प्रकाश आता है तो अन्धकार नहीं टिकता। प्रकाश के अभाव में ही अन्धकार की कालिमा स्थित रहती है। विषमता तभी तक है जब तक समता का उदय नहीं होता। प्रकाश की एक किरण जैसे गहन अन्धकार को भेद देती है, वैसे ही ममता की दिशा में गति का आरम्भ ही विषमता को हिला देगा।



उन्नति की मां: समाज

विश्व का प्रत्येक पदार्थ का एक-दूसरे से संबंध है। कोई भी ऐसा नहीं है, जो एक-दूसरे से बिलकुल निरपेक्ष हो। समाज के अन्दर ही सब कुछ है। अर्थात् समस्त उन्नति की जननी कहो तो समाज है।



विश्व: एक घर

विश्व एक घर है। इसमें विविध प्राणिगण तथा विविध पदार्थ विद्यमान हैं। इन सभी को सही तौर पर भली भाँति जानना एवं उनके साथ यथार्थ वर्तन स्वरूप कर्तव्य-दृष्टि का पालन होना जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में स्वतः बनता है।



जीना बने त्यागमय

आपका जीवन उन सबके जीने में किसी भी प्रकार बाधक न हो। आप अपने जीने को त्यागमय बनायें और अन्य सभी प्राणियों के जीने को सुखद बनाने में अपना सम्पूर्ण योगदान करें।



गुणवत्ता का श्रेष्ठ स्तर

पर्यावरण रक्षा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वनस्पति, जल, वायु, पृथ्वी तथा उनके उत्पादनों की गुणवत्ता का श्रेष्ठ स्तर कायम रखा जाए, जिसके कारण सूक्ष्म एवं स्थूल सभी प्राणियों के प्राणों का पोषण यथारीति होता रहे।



मन-मन्दिर

मन-मन्दिर में रोज झाड़ू लगाने की आदत बनाई जानी चाहिए, जिससे ममता की गंदगी हटती जाए और समता की निर्मलता आती जाए।



जहर: पकड़ो मत

जिस प्रकार क्षणिक, क्रोध और उत्तेजना जीवन-भर की उपलब्धि को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार विचार एवं व्यवहार की मृदुता एक नहीं, कई जीवनों को शान्त बनाये रखती है। जहरीले विचारों, जहरीले वचनों और जहरीले व्यवहार को पकड़ो मत, क्योंकि पकड़ने से उनकी जहरीली आग भीतर प्रवेश कर जाती है।



जागृत हृदय

जो सदा जागृत हृदय से कथन करता है और उसे जागृत हृदय से ही आचरण में उतारता है, उसकी आत्मा का विकास सहज ही सम्पादित हो सकता है। आत्मा की विराट् चैतन्य-शक्ति चिन्तन, कथन एवं आचरण की शुद्ध जागृति में से प्रस्फुटित होती है।



निर्मलता

आन्तरिक तत्त्वों को देखने के लिए ज्ञान की तीक्ष्णता का होना आवश्यक है, अर्थात् ज्ञान की निर्मलता जितनी बढ़ेगी, उतनी ही तीक्ष्णता की स्थिति बनती जाएगी। ज्ञान की निर्मलता जीवन की निर्मल अवस्था पर अवलम्बित है। जीवन को निर्मल बनाने के लिए भौतिक वस्तुओं पर से ममत्व हटाना आवश्यक है।



चरैवेति

साधक को साधना के क्षेत्र में निरन्तर चलते रहना चाहिए। कभी भी विराम की नहीं सोचना चाहिए। विराम का चिन्तन साधक के गिराव (पतन) का सूचक है।



वैज्ञानिक की तरह

जागृत आत्मा एक वैज्ञानिक की तरह निरीक्षण/परीक्षण की प्रक्रियाओं में तटस्थ दृष्टा बन जाती है। विज्ञान के नए आविष्कार करने की जिज्ञासा रखने वाला वैज्ञानिक पहले प्रयोग करता है - एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ में मिलाता है और निरीक्षण करता है कि उस मिश्रण का दोनों पर कैसा प्रभाव पड़ा? ध्यान रखने की बात है कि पदार्थों की पारस्परिक प्रभावशीलता में वह अपना भान नहीं भूलता है, स्वयं तटस्थ रहकर पदार्थों के विभिन्न मिश्रणों के परिणामों को तौलता/परखता है।



जीभ: स्वाद/शब्द

जिह्वा स्वाद और शब्द की भूल होती है। ये दोनों शक्तियां अपने-आप में बड़ी विशिष्ट हैं। इन शक्तियों के प्रवाह को यदि ठीक से समझ लिया जाए तो इस संचार समुद्र की काफी जानकारी हो जाती है।



जड़ों में

विचारों की जड़ों में से ही अमृत या जहर बनता है। इस विराट् विश्व में विचारों का विभिन्न वैचित्र्य विभिन्न रूपों, प्रकारों, कार्य-कलापों आदि के रूप में परिलक्षित हो रहा है; परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि मूल तथ्यों को समझा नहीं जा रहा है।



आत्मावलोकन

आत्मा की मौलिक अवस्था प्राप्त करने के लिए स्वयं को ही अधिक देखना पड़ता है। वास्तविकता बाहर से विकसित नहीं होती, विकास का मूल स्रोत अंदर से ही प्रवाहित होता है।



वस्तुस्थिति से पार

सूक्ष्म/सही दृष्टि का चिन्तन बड़ा विलक्षण होता है। वह वस्तुस्थिति के पार पहुंचाने वाला होता है। इसके लिए चित्तवृत्ति में समत्व आना चाहिए।



यथारूप

जागतिक वस्तुएं यथास्थान, यथास्वरूप विद्यमान रहती हैं। उनका वस्तुस्वरूप की दृष्टि से अवलोकन करना यथास्थान, यथायोग्य समझना ही श्रेयस्कर है। उन पर राग अथवा द्वेष का उद्वेग लाना योग्य नहीं।



अभय की पराकाष्ठा

अभय की अवस्था जब पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है, तब वह अमर हो जाती है। मृत्यु को जीत लेना अर्थात् उसे मार देना है। अभय-यह कोमल गुण-आत्मा की शक्ति रूप है उस शक्ति का जन्म विचारों में होता है।



निकाल ही दें इन्हें

भय और चिन्ता को सदा-सर्वदा के लिए जीवन से निकाल ही देना चाहिए। ये जीवन की बहुत बड़ी शत्रु हैं। इन्हीं से जीवन का अधिक हास होता है।



घुन

ईर्ष्या पतन का भयंकर रास्ता है। यह अमूल्य जीवन का घुन है। यह वह जहर है तो जीवन को श्मशान तक शीघ्र ही पहुंचा देता है। ईर्ष्या एक जीवन को नहीं, अनेक जीवनों को नष्ट करती है।



गलत भाषा: गलत चिन्तन

मैं यदि मानव हूं और मुझे मानवता का सात्त्विक गौरव है, तो सबके साथ समता का बर्ताव करना है यानी यथायोग्य व्यक्ति के

साथ यथास्थान व्यवहार रखते हुए स्व-पर के विकास का ध्यान रखना है और मान-अपमान की भाषा में कभी नहीं सोचना है ।



सम्यग्ज्ञान/मिथ्याज्ञान

जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में रही हुई है, उसे उस समय, उस अपेक्षा से उस रूप में जानना-मानना 'सम्यग्ज्ञान' है । इससे विपरीत यानी जो वस्तु जिस समय, जिस रूप में नहीं है, उस अपेक्षा से उसे उस समय, उस रूप में जानना या मानना 'मिथ्याज्ञान' है ।



जैसा वेश हो

जिस समय जैसा वेश हो, उस समय उसी के अनुरूप कार्य एवं व्यवहार होना चाहिए और जिस समय जैसा कार्य किया जाता हो, उस समय उसी कार्य में मन, वचन और काया का एकाकार होना जरूरी है ।



परावलम्बन

स्वयं का उत्तरदायित्व स्वयं पर है; दूसरों पर नहीं । दूसरे सहायक बन सकते हैं; लेकिन कब? जबकि हम स्वयं अपने कर्तव्य-पालन में तत्पर हों तब ।



बाधक नहीं, साधक

विचार-शक्ति का सदुपयोग करने वाला सोचता है कि मुझे आपत्ति में डालने वाला कोई नहीं है । जो मेरी उन्नति में बाधक दिखता है, वह बाधक नहीं, साधक है ।



अन्धाधुन्ध

पेड़ों की अन्धाधुन्ध कटाई से वायुमण्डल में गंदगी बढ़ रही है और प्राणवायु की कमी हो रही है । वनस्पति के जीवों की इस हिंसा से पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा हो रही है, क्योंकि अधिकाधिक कृषि-भूमि अपनी उर्वरा शक्ति खोकर बंजर होती जा रही है, जिसका सीधा बुरा प्रभाव मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की जीवन-रक्षा पर अन्नाभाव के कारण पड़ रहा है ।



अहिंसा का शासन

शासन-रहितता के अभिप्राय उस शासन है, जो शासन शोषण या हिंसा से युक्त हो, जिसमें विचार स्वातन्त्र्य का दमन नहीं किया जाता है । शासन इन्सानियत से वंचित रखने वाला नहीं हो, बल्कि प्रेम या अहिंसा का शासन हो तो अवश्य हो । इसके बिना प्रगति संभव नहीं है ।





अवदान



समता दर्शन : समीक्षण-ध्यान : समवसरण

दान और अवदान में फर्क है। दान की अपेक्षा अवदान अधिक मृत्युंजय है। अवदान महापुरुषों के सम्पूर्ण जीवन का महायोग होता है। उसमें उनके प्राणों का सार और स्पन्दन होता है।

अवदान

संत शब्द सातत्य और समानता का परिचायक है। भारतीय संस्कृति के विकास और उन्नयन में संतों की उल्लेखनीय भूमिका रही है। उन्होंने भारतीय लोक-जीवन को जो गौरव प्रदान किया है, समय-समय पर उसे जो दिशा-दर्शन दिया है - विश्व के इतिहास में उसकी कोई तुलना नहीं है।

संत-प्रवर आचार्य श्री नानालाल जी का अवदान इस दृष्टि से अद्वितीय है। उनका यह अवदान (कांटीव्यूशन) बहुआयामी है। उन्होंने पांच से अधिक दशकीय साधुत्व-शासन में भारतीयों को जो जीवन-दर्शन (एक सुलझी हुई जीवन-शैली) दिया है, एक वर्ग को गतिशील जीवन जीने की जो कला प्रदान की है, वह अप्रतिम है।

वस्तुतः उनका चिन्तन निर्धूम अग्नि की तरह स्पष्ट और असंदिग्ध, अनभ्र आकाश की भांति उदार और बारहखड़ी की तरह इतना आसान है कि कोई भी व्यक्ति उनकी उपयोगिता और महत्ता को सरलता से समझ सकता है। यद्यपि उनकी लौकिक शिक्षा अत्यल्प है, तथापि उनके अनुभव और जीवन-प्रयोग अचूक, अनगिन और निर्द्वन्द्व हैं। उनके सोचने में ऐसा कुछ नहीं है, जिसकी नींव पाताल-तक-गहरी न गई हो। उन्होंने समतामूलक जीवन-शैली के हर पहलू को अपने जीवन में ढाल कर देखा है, असल में उसे सिर्फ ढाल कर ही नहीं देखा है, वरन् उसे अपने जीवन में से प्रकट भी किया है। वे कोरे सिद्धान्तवादी नहीं हैं, व्यवहारवादी भी हैं। उनके जीवन सूर्य की जो किरणें जन-जीवन में रोशनी बनी हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं।

समता-दर्शन और उसे जी कर जीवन में प्रकट करने वाली समता-समाज आचार्यश्री के प्रमुख योगदान हैं। हमारा देश विषमताओं और विविधताओं का देश है। आचार्य श्री ने इन विविधताओं/विषमताओं में से एकरूपता और समता के जो दर्शन किए हैं, वही भारतीय संस्कृति की अस्मिता का संघटन करते हैं।

उनके समता दर्शन के दो पक्ष हैं - व्यक्ति, समाज। दूसरे शब्दों में हम इन्हें अन्तर्मुख और बहिर्मुख पक्ष भी कह सकते हैं।

व्यक्ति पर आज जो संकट है, उसके जीवन में जो हाहाकार, कोलाहल और वैषम्य है, उससे वह बुरी तरह टूट गया है। उसके पांव लगभग उखड़ गए हैं। संत्रास के इन विकट क्षणों में उसके व्यक्तित्व को एक संगठित और व्यवस्थित करना बहुत जरूरी है।

व्यक्ति समाज की इकाई है। यदि वही विघटित और खण्डित होता है या भीतर से टूटता है तो उसका यह विघटन/टूटन पूरे समाज को प्रभावित करेगा। समाज में आज जो बिखराव है, उसका प्रमुख कारण उसकी तलवर्ती समता का खण्डित होना ही है। यदि हम समाज में किसी सुनियोजित संतुलन और साम्य की वापसी चाहते हैं, तो यह बहुत जरूरी होगा कि हम आचार्यश्री के समता दर्शन को गांव-गांव और शहर-शहर पहुंचाएं।

ख्याल रहे उनके द्वारा प्रतिपादित यह जीवन-शैली साम्प्रदायिक नहीं है। वह सिर से पैर तक सम्प्रदायातीत है।

श्री नानालाल जी का जीवन-दर्शन किसी सम्प्रदाय के खूटे से बंधा हुआ नहीं है, वे किसी एक जगह रुकते ही नहीं हैं। वे डायनेमिक हैं, गतिशील हैं। उनका चिन्तन, उनका जीवन 'चरैवेति' के मन्त्र से स्फूर्त है। वे अपने वर्षायोग में भी मेघावली-की-

तरह गतिशील बने रहते हैं। उन्हें एकान्त चाहिए। वे कोलाहल से दूर स्वयं-की-खोज में एक खोजी वैज्ञानिक की तरह अनवरत लगे रहते हैं। धर्म उनके लिए विज्ञान है। वे उसे शास्त्र-की-पृष्ठभूमि पर जीवन-से-जोड़ कर चलने वाले महापुरुष हैं। मर्यादाओं का प्रतिपल/प्रतिपग परिपालन उनका एक महत्त्वपूर्ण मिशन है। वे जो भी करते हैं, उसके आगे की जमीन पहले देख लेते हैं। उनके सामने भविष्य भी वर्तमान की तरह स्पष्ट होता है।

उन्होंने माना है कि विषमताओं की जड़ें मानव-मन में बहुत गहरे पड़ी हुई हैं। इन जड़ों को ध्यान-की-आग से ही अस्तित्व-शेष किया जा सकता है। मनुष्य में क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे विकार बहुत गहरे धंसे हुए हैं या कहें कि मनुष्य इन विकृतियों में बहुत गहरे फंसा हुआ है। अतः जब तक वह अपने 'होने' की आमूल-चूल समीक्षा नहीं करेगा, तब तक उसे यह भान नहीं होगा कि वह समता-के-पथ पर कैसे आए। सबमें पहले उसे 'स्व' को खोजना होगा। उसे पता पाना होगा कि 'स्व' कहां है? उसे देखना होगा कि उसका मूल स्वरूप क्या है? क्या क्रोध, मान, माया और लोभ ओढ़े हुए अस्तित्व है? क्या क्षमा, मार्दव, आर्जव और अपरिग्रह उसका स्वभाव है? जब तक वह अपने वर्तमान की दाहक समीक्षा नहीं करेगा, स्वयं को वह अपने तल-अतल में नहीं डाल पायेगा। जब तक वह स्वयं डुबकी नहीं भरेगा, तब तक उसकी अपनी शक्तियों पर पकड़ नहीं बन पाएगी।

समता-जो मनुष्य का मौलिक व्यक्तित्व है - को प्रकट करने के लिए आचार्यश्री ने समीक्षण-ध्यान की पद्धति को आविष्कृत किया है। कहा है कि पहले तुम अपने उत्खनन करो। पहले तुम अपने मन-के-खेत में ध्यान-का-हल चलाओ और क्षमा, अहिंसा, विनय और अनासक्ति के बीज उसमें डालो और फिर हरी-भरी फसल आए तब उसे पूरे विश्व को बांटें। उनका मानना है कि जब तक हम व्यक्ति को शुद्ध नहीं करते, समाज की परिशुद्धि संभव नहीं है। आज वस्तुतः समाज-का-परिवेश इतना प्रदूषित है कि हम उसमें ठीक से सांस भी नहीं ले सकते।

व्यक्ति-शुद्धि के लिए अन्तरावलोकन आवश्यक है। इन अन्तरावलोकन के दो सूत्र हैं-खुद में गहरे उतरना, गहरे उतर कर विकृतियों को बाहर उलीचना। अन्तरावलोकन की प्रक्रिया में व्यक्ति देखे कि वह क्या है और वह क्या हुआ है; वह कहां है और उसे कहां होना था। ऐसा करने से उसे अपने स्वभाव का अनुभव होगा और वह अपनी सहज शक्तियों को पहचान सकेगा। जैसे ही व्यक्ति अपनी शक्तियों को पहचानने लगता है, वह शक्तिशाली हो पड़ता है। जब समाज व्यक्तिशः परिशुद्ध और शक्तिशाली होगा, तब पूरे समाज में ऐसा वातावरण बनेगा जो विश्व-शान्ति की स्थापना में सहयोगी होगा।

समीक्षण-ध्यान की एक ऐसी जीवन्त देन है, जिसे मानव-समाज कभी विस्मृत नहीं कर पाएगा। सापेक्षता का सिद्धान्त प्रवर्तित कर जिस तरह वैज्ञानिक आइन्स्टाइन ने विज्ञान को समृद्ध किया - उसे उपकृत/सुदृढ़ किया, ठीक वैसे ही आचार्यश्री ने समता-दर्शन के प्रवर्तन द्वारा अखिल मानवता को अनुगृहीत किया है। उनका यह दर्शन मनुष्य के सर्वतोमुख उत्थान की एक ऐसी आधार-शिला है, जो उसे संकट, द्वन्द्व और विघटन के दुःखदायी क्षणों में भी कभी उखड़ने नहीं देती।

धर्मपाल-अभियान आचार्यश्री नानालाल जी के समता-दर्शन की मूर्त अभिव्यक्ति है। 'जैन' शब्द को जो उत्कर्ष धर्मपाल-अभियान से मिला है, वह और किसी अभियान से किसी और ने अब तक नहीं दिया है। अस्पृश्यता का अस्तित्व बहिर्मुख नहीं

है। यदि हम इसका कोई समाधान ढूँढ़ना चाहते हैं तो पहले व्यक्ति को समता-के-अमृत से परितृप्त करना होगा। समता के सम्मुख अस्पृश्यता कभी टिक नहीं सकती। जैसे प्रकाश के आगे अन्धकार घुटने टेक देता है, ठीक वैसे ही समता के सामने अस्पृश्यता-जो एक तरह की विषमता ही है, सिर-पर-पांव रखकर भाग खड़ी होती है।

बलाई-मनुज है। मनुष्य एक-दूसरे को अछूत मानें, यह कहां का न्याय है? जब हम बैल, कुत्ता, ऊँट, भेड़, बकरी, गधे तक को स्पृश्य मानते हैं, तब फिर मनुष्य के किसी वर्ग को अस्पृश्य मानना और उसे शोषण, दमन-दोहन, रुढ़ि आदि का शिकार होने देना/कहां तक उचित है।

इस सामाजिक विषमता या अनौचित्य का अनुभव किया साधुमार्गी जैन संघ के वर्तमान आचार्य श्री नानालाल जी ने। सन् 1963 में उन्होंने बलाइयों के हाथ में समता की मशाल थमाई। उन्हें अहिंसा और सत्य, समता और सम्यक्त्व, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का पाठ पढ़ाया। उन्हें जीने की एक अहिंसा-समतामूलक पद्धति से दीक्षित किया। आचार्यश्री ने अनुभव किया कि जब तक हम समाज में-से सामाजिक वैषम्य को उखाड़ नहीं फेंकते, भगवान महावीर के प्रति न्याय नहीं कर पाएंगे। आचार्यश्री की मान्यता है कि महावीर जैसी महान विभूति केवल जयघोष के लिए नहीं है, बल्कि अपने जीवन में उतारने के लिए है।

साधुमार्गी जैन संघ की धर्मपाल-अभियान जैसी उपलब्धि की तुलना में जैनों के किसी भी वर्ग के पास ऐसा कुछ नहीं है, जो भगवान महावीर अथवा जैनाचार को गौरवान्वित करता हो। आज से तीन दशक पूर्व मध्यप्रदेश के बनबना ग्राम में जो घटना हुई, उसने अखिल मानवता के मस्तक को कुंकुम-रोली के तिलक से विभूषित किया। 23 मार्च, 1963 को इस धरती पर अमृत की जो पहली धार पड़ी, उससे अभिशप्त-संत्रस्त मानवता संतुप्त हुई। लगा जैसे किसी गौतम बुद्ध की हथेलियों के मध्य कोई घायल पक्षी अभय पा गया हो। आचार्यश्री के निर्मल हृदय ने तब यह अनुभव किया कि यदि समाज का कोई तबका आहत है तो यह संभव नहीं है कि समग्र समाज सुख-शान्ति की सांस ले सके। जिस तरह सम्पूर्ण शरीर के स्वास्थ्य के लिए शरीर के सारे अवयवों का स्वस्थ और नीरोग होना आवश्यक है, ठीक वैसे ही मानव-समाज की सुख-शान्ति और निर्विघ्नता के लिए प्रत्येक मनुष्य के स्वस्थ, समग्र, अखण्ड और कल्याणरत होना जरूरी है। जब तक एक इन्सान दूसरे इन्सान के सुख के लिए हशिया लेकर नहीं चलेगा, यह असम्भव ही होगा कि हम युद्धों और हत्याओं को रोक पाएं। आचार्यवर ने कहा कि समता-दर्शन ही विश्व शान्ति की रीढ़ बन सकता है। उन्होंने अपने प्रवचनों में अपने इस कथन की कई उदाहरणों से पुष्टि की है।

सन् 1987 में इन्दौर-वर्षावास में उन्होंने संस्कार-क्रान्ति को लेकर जो विचार व्यक्त किए हैं, वे मनुष्य को उसी तरह समग्र/एकत्र करने वाले हैं, जिस तरह आषाढ़ मास का पहला पानी दुस्सह गर्मी से फटी धरती-दरार-पड़ी-जमीन को जोड़ता है। आचार्यश्री का समता-दर्शन संतप्त मानवता के लिए एक ऐसा मंगलकारी संदेश है जो उसके व्यक्तित्व को निर्विघ्न बनाता है और उसके पावों पर चन्दन-लेप करता है। वस्तुतः समता-दर्शन इस धरती का आह्लादक मंगल गान है।

समता-दर्शन और समीक्षण-ध्यान की तरह ही आचार्य-प्रवर का एक और महत्वपूर्ण योगदान है - समवसरण। यह शब्द उनका नहीं है, मेरा है। 'समवसरण' वैसे अर्हन्त भगवान के उस देशना-स्थल का नाम है, जहां तिर्यन्व मनुष्य और देव सब उनकी अमृतवाणी के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। कोई प्रक्रिया जिसमें सभी प्राणियों को आत्मोन्नयन का समान अवसर मिलता

है; जहां किसी के साथ किसी तरह का कोई भेद-भाव नहीं बरता गया है। आचार्यश्री का मानना है कि आत्मोन्नयन के अवसर सबके लिए सहज उपलब्ध हैं, सवाल सिर्फ उनके उपयोग का है। इस क्षेत्र में संपूर्ण युद्ध स्वयं को जूझना है। आत्मबोध से आत्मशुद्धि तक की सारी प्रक्रिया मनुष्य के भीतर जो प्रयोगशाला है उसी में सम्पन्न होती है; बाहर से कोई कुमुक या सहायता नहीं मिलती। स्वाधीनता जैनदर्शन का अलम्भ्य अवदान है। इस धारणा को जिसने जाना-समझा उसे मुक्ति-की-डगर पर आया समझो।

‘समवसर’ शब्द ‘सम्+अव+सृ+अच्’ से मिलकर बना है। यह संस्कृत का शब्द है। जिस तरह ‘किरण’ (रे) से ‘किरणन’ (रेडिऐशन) बनता है, ठीक वैसे ही ‘समवसरण’ शब्द बना है, जिसका अर्थ है ऐसा स्थल जहां अधिकाधिक प्राणी एक साथ बैठकर किसी महान् साधक की देख-रेख में आत्मोत्थान की योजना करते हैं। समवसरण-की-रचना अभूतपूर्व होती है। यह भारतीय शिल्प/स्थापत्य का उत्कृष्ट नमूना है। समवसरण में सब एक-जैसे होते हैं। न कोई छोटा, न कोई बड़ा; न कोई धनी, न कोई निर्धन; न कोई राजा, न कोई रंक; न कोई नर, न कोई नारी; न कोई बालक, न कोई वृद्ध - क्योंकि ये सब पुद्गल की पर्याय हैं - आत्मा की पर्याय नहीं है। समवसरण ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ (जैसा मैं, वैसे सब) की महत्तम अनुभूति की साधना-भूमि है। आचार्यश्री का समता-दर्शन/समीक्षण-ध्यान/धर्मपाल-अभियान समवसरण की इस प्राणधारा से सम्प्रेरित है। समता-दर्शन को हम समवसरण का लघुसंस्करण कह सकते हैं।

आचार्यवर का यह अवदान जब तक सूरज है, चन्द्र है, नक्षत्र है, आकाश है, वसुन्धरा है तब तक प्राणि-मात्र को प्रकाश से अन्धकार, असत्य से सत्य तथा भंगुरता से अमरता की ओर ले जाता रहेगा।



धर्मपाल-अभियान

परिकल्पना : 22 मार्च, 1964; ग्राम – बनबना (मालवा, मध्यप्रदेश)

सूत्रपात : 23 मार्च, 1964; ग्राम – गुराड़िया (मालवा, मध्यप्रदेश)

प्रवर्तक : आचार्य श्री नानालाल जी; पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की वन्दना के साथ सहज स्फूर्त नाम 'धर्मपाल'।

कार्य-क्षेत्र : मालवा, मध्यप्रदेश; लगभग 300 वर्गमील में विस्तृत क्षेत्र।

ग्राम संख्या : 600

प्रमुख जिले : उज्जैन, रतलाम, धार, मन्दसौर, शाजापुर, देवास, इन्दौर।

संबंधित जन : बलाई; लगभग एक लाख।

'धर्मपाल' शब्द का अर्थ : जो अपने दोष स्वयं देखे और उन्हें दूर करे तथा एक अहिंसक/व्यसनमुक्त, सादगी/संयम पूर्ण जीवन के लिए संकल्पबद्ध हो।

लक्ष्य : संयम, समता, सादगी, सुसंस्कार (व्यसन मुक्ति/व्यसन सात हैं – जुआ, मांस, शराब, चोरी, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, शिकार); सुस्वास्थ्य तथा स्वच्छता के लिए जन-जागृति।

धर्मपाल-सम्मेलन : 1964/चीकली, 1973/जावरा, 1975/देशनोक, 1976/नोखामंडी, 1979/इन्दौर।

धर्मपाल-शालाएं : 11 छात्र/1969, 22 छात्र/1973

धर्मपाल नवयुवकरैली : नवम्बर 1974, अक्टूबर 1976, जनवरी 1978

चिकित्सा-शिविर : 1975/बदनावर।

धर्मपाल प्रशिक्षण शिविर : 1975/मक्सी।

क्षेत्रीय धर्मपाल सम्मेलन : दिसम्बर 1975/नागदा-खाचरौद; जून 1976/नागदा।

धर्म-जागरण पद-यात्राएं : अप्रैल/1975, मार्च/1976, अप्रैल/1978, मार्च 1979, मार्च/1980

धर्मपाल स्नेह-सम्मेलन : 12 जनवरी 1976/सरसी, 16 जनवरी 1976/खोखरा, 18 जनवरी 1976/शिवपुर रामपुरिया।

धर्मपाल स्वास्थ्य परीक्षा : मई 1976/मक्सी।

धर्मपाल शिक्षक प्रशिक्षण शिविर : मई 1976/मन्दसौर, मई 1977/रतलाम ।

कार्यकर्ता प्रशिक्षण शिविर : सितम्बर 1978/रतलाम ।

धर्मपाल जैन छात्रावास : दिल्लीपनगर, रतलाम/7 जुलाई 1979

समाज-रचना के पांच सूत्र : धर्मेश मुनि/गुराड़िया/26 फरवरी 1979 – एक/आत्मशुद्धिकरण (अविकृतिकरण); दो/व्यसन-मुक्त जनों से सामाजिक संबंध; तीन/मासिक अगता (संपूर्ण जीव-हिंसा का संकल्प); चार/आपसी विवादों के निराकरण के लिए धर्मपाल-पंचायतों की स्थापना; पांच/अहिंसक समाज-रचना के लिए भरपूर कोशिश ।

धर्मपाल युवा शिविर : जून 1980/रतलाम ।

धर्मपाल दिवस : 23 मार्च ।



●●●●
धर्मपाल अभियान एक ऐसा लोक कल्याणकारी अभियान है, जो समूचे जैन समाज को ही नहीं, अपितु भारतीय समाज को गौरवान्वित करता है ।

●●●●
धर्मपाल कोई बलाई ही हो यह जरूरी नहीं है, वह जैन भी हो सकता है । क्या कोई जैन अपने दोषों को दोष देखकर उन्हें छुपाने या अनालोचित या अनालुंछित छोड़ने अथवा रखने का प्रयास करेगा? यदि करेगा तो वह तत्क्षण जैन ही नहीं वरन् मनुष्य ही ठीक से नहीं रह पाएगा ।

●●●●
महावीर के इस अजर-अमर वाक्य को कि कोई जन्म से नहीं कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (मन्त्री, सिपाही, सेवक, अध्यापक, चिकित्सक, अभियन्ता आदि) हो सकता है न सिर्फ धर्मपाल या जैन के मनःप्राण में बल्कि पूरी दुनिया के दिलोदिमाग में बो देना चाहिए ताकि देर से ही सही समता की उस डगर पर हम चल सकें, जो सार्वभौम शान्ति और कल्याण की एकमात्र डगर है ।



पशु-पक्षियों में भी समाज-व्यवस्था देखी जा सकती है।
उनमें किसी को अपराध करने पर सामूहिक या व्यक्तिगत दण्ड
मिलता है। पशु-पक्षियों में जैसे भी अनुकूल या प्रतिकूल साधन होते हैं,
उनका वे यथावसर उपयोग करते हैं। जब कभी
विजातीय आक्रमण होता है, तो स्वजातीय अपराधों को गौण करके
सामूहिक एकता से प्रत्याक्रमण करते हैं। उनमें भी
साम्राज्यवृत्ति और समाजवादवृत्ति दोनों ही पाई जाती हैं।
अनुशासन-व्यवस्था उनमें अच्छी होती है। उनमें ईमानदारी अधिक होती है,
बेईमानी बहुत कम। उनमें प्रेम या मुग्धता भी अपेक्षाकृत
अच्छी होती है। उनकी अपनी सांकेतिक भाषा होती है। आज का
मानव जरा तुलना करे अपने आप से इनकी।

नानेश वाणी (दि. 26.06.51)



सातव्य



जो सतत् है, उसमें ऊर्जा के न होने का प्रश्न ही नहीं है। सामान्य का सातत्य भी शक्तिशाली होता है और बलशाली की विरलता या टूटन-किए-कराये पर पानी फेर देती है। सातत्य स्वयं में एक महान शक्ति है।

सातत्य

साधुमार्ग के पास आचार्यों की जो थाती है, वह व्यक्ति-शुद्धि का अभिनव उपाय है। यह परम्परा एक ऐसी नदी है, जिसका जल मन को प्रतिपल निर्मल/शुभ्र बनाए रख सकता है। बहती नदी का जल निर्मल होता है। जल जब घिर जाता है, तब या तो वह सूख जाता है या फिर उसमें सड़ांध/विकृति उत्पन्न हो जाती है। साधुमार्ग की सरिता का जल सतत् निर्मल है। इसके आचार्यों ने कभी स्वयं को पुराना (बासी) नहीं होने दिया। वे जैनदर्शन और जैनाचार की मौलिकताओं की रक्षा करते हुए नए विश्व-संदर्भों में स्वयं को/संघ को बराबर समायोजित करते रहे। इस सिलसिले में हम आचार्य श्री जवाहरलाल जी की सिंहगर्जना को विस्मृत नहीं कर सकते, जिन्होंने आज से एक सौ दो वर्ष पूर्व कहा था – ‘प्रकृति की पाठशाला में से जो संस्कारी ज्ञान मिलता है, वह कॉलेज या हाईस्कूल में मिलना कठिन है।’ झरने को देखकर उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई उसे देखें। वे कहते हैं – ‘यह झरना अपना समस्त जीवन (जल) किसी बड़ी नदी को सौंप देता है और उसके साथ होकर समुद्र में विलीन हो जाता है। वहां पहुंचकर वह अपना नाम भी शेष नहीं रहने देता। इसी प्रकार मैं भी किसी महापुरुष की संगति से परमात्मा में मिल जाऊं तो क्या कहना है!!’ यह है विरासत, जो हमें साधुमार्ग के प्रशस्त संतों से मिलती है। क्या हम अ-नाम त्याग की किसी परम्परा को इस तरह जीवन्त रख पायेंगे?

साधुओं की ओर संकेत करते हुए आचार्य श्री जवाहरलाल जी ने सन् 1910 में कहा था – व्यापारी व्यापार में हानि-लाभ का विचार करता है, पर हे मुनियों! तुम व्यापारी की तरह हानि-लाभ के झमेले में मत पड़ो। अपनी उद्देश्य सिद्धि की और अपने कर्तव्य पालन की ओर ही ध्यान रखो। लाभ-हानि के द्वन्द्व में न पड़ना संयम का मूल लक्षण है। क्या साधुमार्ग के साधु इस विरासत के सातत्य को विसंगतियों से भरे इस समाज में बनाए रखेंगे? यह चुनौती है जिसे साधुमार्ग को झेलना है और पूरे देश के साधुओं के सामने एक ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करना है।

हमें आचार्य जवाहरलाल जी के इस विचार के सूत्र को भी अटूट रखना है कि ‘सत्याग्रह के बल की तुलना कोई बल नहीं कर सकता। इस बल के सामने मनुष्य की शक्ति तो क्या, देवशक्ति भी हार मान जाती है।’ सत्य के प्रति इस निष्ठा के सातत्य को यदि साधुमार्गी श्रमण और श्रमणोपासक निभाते हैं तो ऐसी कोई शक्ति इस विश्व में नहीं है जो उन्हें पराजित कर सके।

क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुक्मीचंद जी से लेकर धर्मपाल-अभियान के प्रवर्तक आचार्य श्री नानालाल जी तक जो भी आदर्श हमारे झोले में हैं, हम उन्हें संभालकर रखें और देखें कि कोई अंधेरा ऐसी हिम्मत नहीं कर सकेगा कि हमें हराये या निराश करे। यदि आठ दीयों की यह कतार आपकी हथेली पर है तो आप ही बताएं कि क्या आपको किसी प्रकाश की कमी पड़ सकती है? प्रश्न सिर्फ रोशनी के उपयोग का रहेगा। वह आप पर निर्भर है।

इसी तरह जिस तरह हम आचार्य जवाहरलाल जी के चिन्तन-चिन्तामणियों को अपने मन की हथेली पर रखकर निरापद-निर्विघ्न बने रह सकते हैं, उसी तरह यदि वर्तमान आचार्य श्री नानालाल जी के चिन्तन-कल्पवृक्षों से हम अपने मन-के-उद्यान को हरा रखें तो कोई कारण नहीं है कि हम विफल हों। आचार्यवर एक जगह कहते हैं – ‘प्रशंसा जहरीले सर्प के समान है। अगर

इसका जहर तुझे चढ़ गया तो तू नष्ट हो जाएगा।' क्या प्रशंसा का नाग हमें न डसे, इसलिए आचार्य-परम्परा से मिले प्रशम-रति/परम वैराग्य के कवच को धारण कर हम निर्विष/निर्विघ्न रह सकते हैं?

आचार्यवर कहते हैं - 'विषमता मनुष्य के मन को विकृत बनाती है। मनुष्य विकृत मन से अपना व्यवहार विकृत बनाता है और इस तरह विकृति का समाजीकरण होने लगता है।' क्या हम विकृतियों के समाजीकरण के इस विषचक्र को काट पाएंगे ताकि साधुमार्गी आचार्य-परम्परा निर्विघ्न बनी रहे और लोकोपकार की गंगा-धार बहती रह सके?

एक मौके पर आचार्यवर ने कहा है - 'सदाचार कल्पतरु से बढ़कर है। स्व-पर मनोवांछित अभीष्ट सिद्धि की उपलब्धि कराने वाला है। शर्त सिर्फ यह है कि वह वास्तविक हो, आत्मप्रसूत हो, अध्यात्म के धरातल पर हो। इसका वर्गीकरण हो सकता है, टुकड़े नहीं हो सकते। कक्षाएं बन सकती हैं, विभेद नहीं, अर्थात् शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार इसे अपनाया जा सकता है।'

क्या हम सदाचार-कल्पतरु की वाटिकाएं अपने घरों में नहीं लगाएंगे ताकि साधुमार्गी आचार्य-परम्परा की प्रेरणा का अविरल स्रोत बना रहे और हमारे जीवन में जब भी कोई बाधा-विघ्न आए, उससे हमारी रक्षा हो?



मनुष्य क्या सोचता है और क्या सोचना चाहिए!
वह सोचता है मैं व्यापार करूं, उद्योग करूं, नौकरी करूं अथवा
अन्य किसी विधि से पैसे कमाऊं, धनवान बनूं, परिवार वाला बनूं,
अधिकार प्राप्त करूं, हकूमत करूं, आधिपत्य जमाऊं, यश कमाऊं,
संसार के विषयों का उपभोग करूं। यही जीवन का सार है, आदि। लेकिन
उपर्युक्त प्रकार से सोचना और उसी को लक्ष्य बना लेना
नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है, भूल-भुलैया है, जीवन के साथ धोखा है, विपरीत मार्ग है,
अधःपतन की सीढ़ी है। मानवता खोना है, पशुत्व में प्रविष्ट होना है, अतः सही
तरीके से सोचने की आवश्यकता है। वह यह कि धन स्थायी नहीं है, परिजन
प्रायः स्वार्थ भावना से प्रेम करते हैं, यह अधिकार अहंकार बढ़ाने वाला है,
आधिपत्य जीवन को झकझोरने वाला है। समग्र स्थितियों का भली-भांति
चिन्तन करते हुए शुद्ध लक्ष्य के साथ यथास्थान, यथायोग्य स्वयं
की सीमा के अनुरूप कार्य करते हुए निरन्तर कदम आगे
बढ़ाने का चिन्तन करना चाहिए।

नानेश वाणी (दि. 29.03.67)



परिशिष्ट



राजनीति क्षणभंगुर है, चंचल है; परन्तु साहित्य चिरस्थायी, मंगलमय है,
उसके आधारभूत मूल्य की क्षति नहीं होती।

परिशिष्ट-1 साहित्य

(अ) स्वरचित ; (आ) संबंधित

(अ) स्वरचित

अखण्ड सौभाग्य (उपन्यास) 1987

अमृत सरोवर (प्रवचन)

आदर्श भ्राता चरित्र (काव्य)

आध्यात्मिक आलोक (प्रवचन)

आध्यात्मिक वैभव (प्रवचन)

उभरते प्रश्न, समाधान के आयाम

ऐसे जिएं

कर्म-प्रकृति (प्रथम खण्ड)

कषाय-समीक्षण

कुंकुम के पगलिये (लघु उपन्यास)

गहरी पर्त के हस्ताक्षर (हिन्दी) 1982

(ऊँडाण ना हस्ताक्षर ; गुजराती)

गुरु वन्दना

जलते जाएं जीवन-दीप

जिणधम्मो 1984

जीवन और धर्म (प्रवचन) 1982

जैन मुनि आणि धर्म (मराठी)

ताप और तप

नव विधान (प्रवचन)

पावस-प्रवचन 1, 2, 3, 4, 5 (प्रवचन)

प्रवचन-पीयूष (प्रवचन)

प्रेरणा की दिव्य रेखाएं (प्रवचन)

मंगल वाणी (प्रवचन)

मान-समीक्षण 1987

लक्ष्यवेध

संस्कार-क्रान्ति 1988

समता-क्रान्ति का आह्वान (हिन्दी)

समता-क्रान्ति चे आह्वान (मराठी)

समता-दर्शन : एक दिग्दर्शन

समता-दर्शन और व्यवहार (हिन्दी)

समता-दर्शन अने व्यवहार (गुजराती)

समता-निर्झर

समीक्षण-धारा (प्रवचन)

समीक्षण-ध्यान : एक मनोविज्ञान 1987

समीक्षण-ध्यान प्रयोग-विधि

(आ) संबंधित

अन्तर्पथ के यात्री : आचार्य श्री नानेश 1982

अविस्मरणीय झलक आचार्य श्री नानेश का सौराष्ट्र प्रवास 1984

अष्टाचार्य : एक झलक

अष्टाचार्य गौरव-गंगा 1986

आचार्य श्री नानेश : एक परिचय (हिन्दी, गुजराती)

आचार्य श्री नानेश : विचार-दर्शन

गुजरात-प्रवास : एक झलक

सफल सौराष्ट्र प्रवास (गुजराती)

'तीर्थकर' (मासिक) (197-198) : साधुमार्ग विशेषांक

सितम्बर-अक्टूबर

1987; पृष्ठ 163-170, 183-184, 122-124, 202।

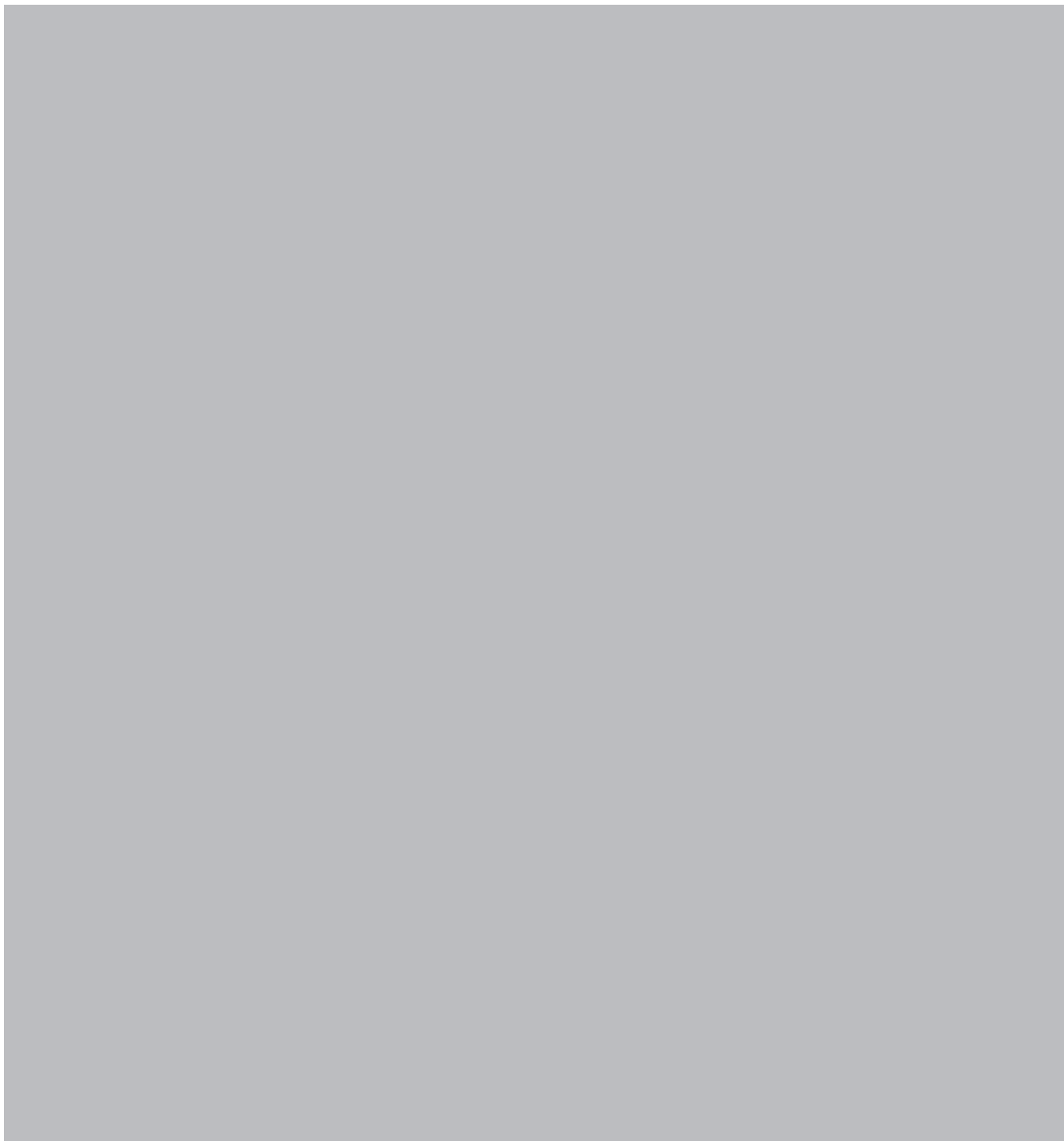


परिशिष्ट-2 सम्पर्क/समागम

- उपाध्याय, प्रकाश ; रतलाम-1988
उपाध्याय, सिद्धनाथ ; धार-1963
कान्तित्रयुषि जी, आचार्य, स्थान -सम्प्र. गुज. खम्भात ; कांदावाड़ी, बम्बई-1985
कुरैशी, मुजीब ; नागदा-1988
कोठारी, दौलतसिंह (डॉ.) ; ब्यावर-1971, राणावास-1980
कोठारी, सुभाष ; रतलाम-1988
कोठारी, हिम्मतसिंह ; रतलाम-1988
गंगवाल, मिश्रीलाल ; इन्दौर-1964
चन्द्रा, के. (डॉ.) ; अहमदाबाद-1982
चम्पक मुनि, आचार्य, स्था. सम्प्र. गुज. बरवाला ; अहमदाबाद-1982
चौपड़ा, जसराज ; नाथद्वारा-1990
जैन, ए. के. ; मन्दसौर-1989
जैन, नेमीचन्द (डॉ.) ; अजमेर-1979
जैन, महावीरसरन (डॉ.) ; अजमेर-1979
जैन, प्रेमसुमन (डॉ.) ; अजमेर-1979
जैन, आर. सी. (डॉ.) ; उदयपुर-1981
जैन, ललित ; इन्दौर-1987
जैन, सागरमल (डॉ.) ; रतलाम-1988
जैन, सुरेश दादा ; जलगांव-1986
टांटिया, मन्नालाल (डॉ.) ; शाहदा (महाराष्ट्र)-1987
तातेड़, आसकरण ; भिवण्डी-1984
तिवारी, मुरारीलाल ; इन्दौर-1987
देशलहरा, मूलचन्द ; रतलाम-1988
नाहटा, नरेन्द्र ; मन्दसौर-1989
निलंगेकर, शिवाजीराव पाटील ; घाटकोपर, बम्बई-1985
पाटस्कर, इन्दौर-1964

पाटील, बसंत दादा ; भिवणडी-1984
पारीक, रामलाल भाई ; अहमदाबाद-1982
बुन्देला, सोहनसिंह ; नागदा-1988
बैद, चन्दनमल ; भीनासर-1972
वैरागी, बालकवि ; मन्दसौर-1969
मायनी, सतीश ; गोधरा-1984
मालवणिया, दलसुखभाई (पं.) ; अहमदाबाद-1982
विद्यानन्द जी, आचार्य ; बोरीवली, बम्बई-1984
वोरा, मोतीलाल ; इन्दौर-1987
संचेती, कान्तिलाल हस्तीमल (डॉ.) ; पुणे-1986
सरूपारिया, हिम्मतसिंह ; उदयपुर-1981
सिंघवी, आर. वी. ; अहमदाबाद-1982
सुखाडिया, मोहनलाल ; मन्दसौर-1969
सुराना, आर. सी. (डॉ.) ; भावनगर-1983
सेठी, प्रकाशचन्द्र ; इन्दौर-1964
सोनेजी ; अहमदाबाद-1982
सोलंकी, शिवभानुसिंह ; मनासा-1984
सौगाणी, कमलचन्द्र (डॉ.) ; उदयपुर-1981
शक्तावत, गुलाबसिंह ; कानोड़-1989
शर्मा, गौतम ; इन्दौर-1964
शर्मा, श्रीवल्लभ ; इन्दौर-1987
शास्त्री, गजानन (डॉ.) ; धारा-1963
शास्त्री, विष्णुकुमार (वैद्य) ; बड़नगर-1963
शान्तिलाल जी, आचार्य, स्थान. सम्प्र. दरियापुरी आठ कोठी ; अहमदाबाद-1982
श्रीमाल, मोहनलाल ; कानोड़-1989
श्रेणिकभाई कस्तूरभाई ; अहमदाबाद-1982
हस्तीमल जी, आचार्य, स्थान. सम्प्र. ; भोपालगढ़-1978





जीवन परिचय

आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलाल जी म. सा.

जन्म स्थान	:	देशनोक, जिला बीकानेर (राज.)
जन्म तिथि	:	वि. सं. 2009, चैत्र सुदी 14
पिता	:	श्री नेमीचन्द जी भूरा
माता	:	श्रीमती गवराबाई भूरा
दीक्षा तिथि	:	वि. सं. 2031, माघ सुदी 12
दीक्षा स्थल	:	देशनोक, जिला बीकानेर (राज.)
दीक्षा गुरु	:	आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.
मुनिप्रवर तिथि	:	22 दिसम्बर, 1990
मुनिप्रवर पद प्रदान स्थल	:	चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि. सं. 2048, फाल्गुनी सुदी 3
युवाचार्य पद के समय		
दीक्षा पर्याय	:	17 वर्ष, 21 दिन
युवाचार्य पद के समय उम्र	:	39 वर्ष, 10 माह, 10 दिन
आचार्य पद तिथि	:	वि. सं. 2056, कार्तिक बदी 3
आचार्य पद स्थल	:	उदयपुर (राजस्थान)
आचार्य पद के समय उम्र	:	47 वर्ष, 6 माह, 4 दिन
आचार्य पद के समय		
दीक्षा पर्याय	:	24 वर्ष, 6 माह, 6 दिन
कुल चातुर्मास	:	43 (सं. 2031 से सं. 2074)
आपश्री द्वारा दीक्षित		
संत-सतियां (सं. 2074 तक)	:	संत-58, सतियां-343, कुल-401
नेश्रायरत् संत-सतियां	:	संत-45, सतियां-304



फिजूलखर्ची : राष्ट्रीय अपराध

“मैं कहता हूँ कि सरकार का काम सरकार जाने, किन्तु फिलहाल तो यही बहुत है कि आप लोग अपना काम जान लें।

फिजूलखर्ची राष्ट्रीय अपराध है और भारत-जैसे गरीबों-के-देश में तो इस अपराध का आकार और अधिक गुरुतर माना जाना चाहिए। जिस देश में एक ओर करोड़ों लोग भुखमरी के कगार पर हों तथा छोटे बच्चों को दूध तक दुर्लभ हो, उस देश में आतिशबाजी-जैसी निरर्थक प्रवृत्ति पर पानी की तरह पैसा बहा देना अपराध ही नहीं, मानवता पर घोर अत्याचार है।

जरूरत इस बात की है कि फिजूलखर्चियां पूरी तरह रोक दी जाएं, बल्कि जो उचित खर्च है उन्हें कम करके बचत की जाए तथा उस राशि का सदुपयोग उन गरीबों का दुःख-दर्द कम करने और मिटाने के हितकारी कामों में किया जाए। सच तो यह है कि ऐसी संकटापन्न परिस्थितियों में आतिशबाजी-जैसी फिजूलखर्ची को एक दण्डनीय अपराध घोषित किया जाना चाहिए।”

- आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.

